ज्योतिर्वेद के विभिन्न सोपान-4

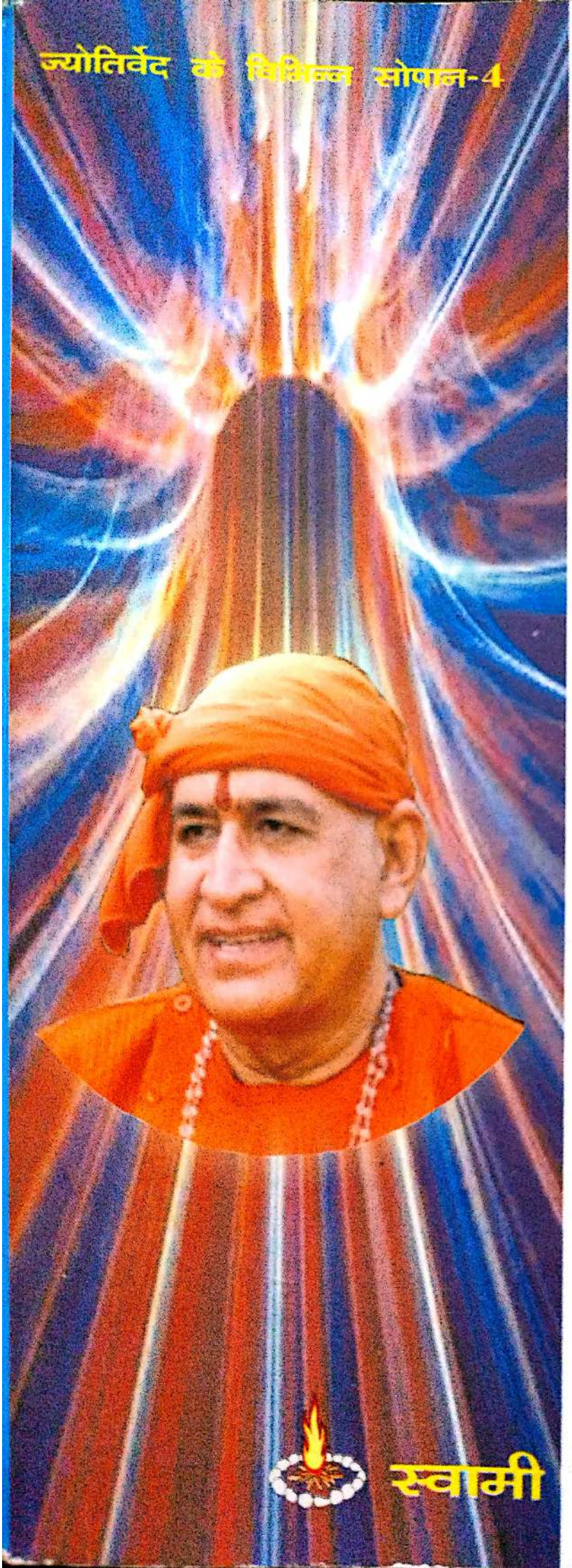

द टाइम्स

आग के फूल

ईशावास्योपनिषद
व
ऋग्वैदिक ऋषि
मेधातिथि काण्व
के अद्भुत रहस्यों के
अनावरण सहित

(Flowers of the Cosmic Fire)

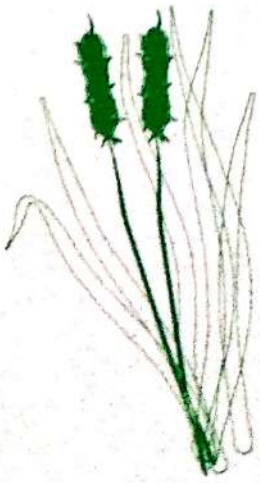

स्वामी सनातन श्री

द टाइम्स

आग के फूल

श्रद्धेय स्वामी सनातन श्री जी के श्रीमुख से

सनातन आश्रम

गौराबाग, कुर्सी रोड, लखनऊ

प्रस्तुति : राजश्वरी शंकर

संपादिका : 'द टाइम्स ऑफ एस्ट्रोलॉजी

निष्काम पीठ प्रकाशन

(Publication Division of TOA)

NISHKAAM PEETH PRAKASHAN

(Publication Divison of "The Times of Astrology")

First Edition : 2005

© Rajeshwari Shanker Associates.

All rights reserved. No part of this book may be used or reproduced in any manner whatsoever without written permission from the publisher except in the case of brief quotations embodied in critical views and reviews.

ISBN - 81-87528-48-6

Also available at :
Lucknow Beureau of **"The Times of Astrology"**
B-4, Arif Vikas Chamber, Sector-2, Vikas Nagar, Lucknow
Phone : 0522 - 2769462

Published by **Rajeshwari Shanker** on behalf of Rajeshwari Shanker Assoicates for Nishkaam Peeth Prakashan (Publication Divison of **"The Times of Astrology"**) Rajeshwari Shanker Associates, R-12 A, Hauz Khas, New Delhi - 110 016 Ph : 011-26512523,
Email: *editor@jyotirved.com*
Printed at : Triveni Offset Printing Press, M-146, Ram Gali no. 7, Panchsheel Garden, Naveen Shahdara, Delhi - 110 032, Phone : 22588175

अनुक्रम

विषय	पृष्ठ संख्या
प्रास्ताविक	4
संन्यासी से परिचय	7
आग के फूल	11
अधियज्ञ–मित्र	26
मर्यादा–कथा	
कुश कथा रहस्य	44
जानकी मिलन	46
अग्नि–परीक्षा	48
श्री राम अवध में	50
लक्ष्मण को आदेश	53
जानकी वन गमन	55
लक्ष्मण का लौटना	57
जानकी–गंगा और बाल्मीकि	59
मुनि वशिष्ठ का निर्णय	61
राजसूय यज्ञ	63
अश्वमेध यज्ञ का स्वरूप	65
अश्वमेध यज्ञ की तैयारी	68
लव–कुश	72
सरयु–प्रवेश	76

विषय	पृष्ठ संख्या
द टाइम्स आग के फूल	
उत्तरार्ध	
(ज्योतिर्वेद के विभिन्न सोपान–4)	
ऋग्वेद के ऋषि!	
मेधातिथिः काण्वः!	*80*
प्रथम सूक्तम्।	83
द्वितीय सूक्तम्।	94
तृतीय सूक्तम्।	104
चतुर्थ सूक्तम्।	116
पंचम सूक्तम्।	122
षष्टम सूक्तम्।	129
सप्तम सूक्तम्।	136
अष्टम सूक्तम्।	146
नवम सूक्तम्।	150
दसम सूक्तम्।	156
एकादश सूक्तम्।	160
द्वादश सूक्तम्।	174

प्रास्ताविक

"संन्यासी के श्रीमुख से निस्सृत प्रत्येक शब्द स्वतः प्रमाण होता है", इसमें कोई सन्देह नहीं रहेगा, पाठकों को।

वस्तुतः सनातन परंपरा से हमारा विचलन निहित स्वार्थों की मात्र तात्कालिक उपलब्धि है। ऐसे दौर में जरूरत थी हमें सच्चे संन्यासियों के आशीषों की, जो सनातन परम्परा के ऊपर पड़ी राख की परतों को अपनी प्राण ऊर्जा से विस्फारित कर समूचे संसार को उत्प्रेरित करते ताकि **'सनातन दर्शन'** और उसकी परम्परा, जनजीवन का फिर से एक अनिवार्य अंग बनते। खेद है कि संन्यास के मर्म को समझे बिना, अनेकों व्यवहार बुद्धि में किंचित अधिक कुशल व्यक्तियों ने, संन्यास के बाह्याडम्बर को तो अपना लिया किन्तु अपने अन्दर संन्यास वृत्ति को नहीं जगा पाए और संन्यास के वस्त्रों में सजे संवरे इन स्वयभूं व्यक्तियों के प्रति उमड़े जन मानस के प्यार और सम्मान को, जो इन्हें सहज रूप में एक बार मिलना शुरू हुआ, तो कहीं बाद में यह छूट न जाए, इस व्यामोह और व्यापार बुद्धि के चलते, वे सचमुच अपने ढोंग और आडम्बर का एक विशाल साम्राज्य खड़ा करने को मजबूर हुए। ऐसा करके, न सिर्फ इन तथाकथित संन्यासियों/संतों ने अपना अहित किया बल्कि सच्चे संतों और संन्यासियों को पृष्ठभूमि में ढकेल कर जनमानस, सचराचर और सनातन दर्शन के असली रूप के साथ घोर अन्याय कर स्वयं घृणित अपराधी बने।

ऐसे माहौल में, **"श्रद्धेय स्वामी सनातन श्री"** जी की इस भरत खण्ड भारत में प्राणवान उपस्थिति, बीसवीं **तथा इक्कीसवीं** शताब्दी का एक बहुत बड़ा गौरव है, सनातन संस्कृति, दर्शन, अध्यात्म और जीवन का एक ऐतिहासिक अध्याय है, जहाँ संन्यासी, समाधि और समाधान के प्रत्यय सदैव के लिए अक्षुण्ण हो गए हैं।

सन्1990 में मुझे बताया गया था कि लखनऊ में कुर्सी रोड पर **'सनातन आश्रम'** है और वहाँ एक विलक्षण संन्यासी स्वामी सनातन श्री हैं। यह आश्रम अद्भुत है, जहाँ पशु, पक्षी यथा कुत्ते, बिल्लियों की योनि में अवतरित जीवात्माएँ "भजो राम! राम! राम! भजो। गोविन्द! राधेश्याम।" के भजन गाते हैं। सामान्यतः यह विचित्रता आश्चर्य पैदा करती है, ऐसा चमत्कार तुरन्त देखने जाने की ललक पैदा करती है, हर मनुष्य के मन में। पर मुझे लगा, यह भी लोगों को आकर्षित करने का ढोंग भर हो सकता है किसी आश्रम का, उस देश में, वर्तमान में जिसमें संन्यासी/संत, अध्यात्म को छोड़ अपने चमत्कारी बाजीगरी करतबों से अपने–अपने प्रतिष्ठान बनाए बैठे हैं।

पुनः एक मित्र ने श्रद्धेय स्वामी जी के बारे में एक प्रसंग सुनाया :

"एक व्यक्ति बदहवास सा आकर आश्रम में स्वामी सनातन श्री जी के चरण कमलों में आ गिरा। बोला, 'स्वामी जी! मुझे बचाइए। मैं तीन दिन और तीन रात से सो नहीं सका हूँ। भय और आतंक से पूरा जीवन भर गया है। मुझे बचाइये।"

"बात क्या है, भगवन?" 'गोविन्द हरि! हरि गोविन्द' कहते हुए स्वामी जी ने पूछा।

'मेरे पड़ोसी ने मुझे जमकर गालियाँ दी हैं, खूब पीटा है, देखिए, मैं तीन दिन से अपना टूटा हुआ हाथ लिए घूम रहा हूँ। प्लास्टर कराने तक बाहर नहीं निकला हूँ। अगर उसने देख लिया और बाहर पा लिया, तो फिर और मारे बिना नहीं छोड़ेगा, ऐसा मुझे लगता है। मुझे बचा लीजिए स्वामीजी" वह व्यक्ति बारबार गिड़गिड़ाए जा रहा था।

'गोविन्द हरि! बन्धु! तुम्हारा कष्ट दूर होगा कैसे? भजना चाहिए था तुम्हें गोविन्द को, जो सबका कष्ट दूर करते हैं, और भज रहे हो तुम तीन दिन से अपने पड़ोसी को, जो कष्ट दे रहा है। जिसने कष्ट दिया है, उसे भजोगे, रातदिन उसी का ध्यान करोगे तो वह और कष्ट नहीं देगा, तो क्या करेगा? गोविन्द हरि! स्वामी जी ने सहज सरलता में उत्तर दिया।...."

उस व्यक्ति का **कष्ट** दूर हुआ या नही' या कैसे दूर हुआ, यह जिज्ञासा मुझे नहीं हुई। बस जिज्ञासा हुई तो इतनी कि यह कोई जेनुइन सन्त है, जो खो नहीं गया है, इस आडम्बरपूर्ण आधुनिक युग में; तुरन्त दर्शन करना चाहिए।

उसके बाद का वृतान्त, नितान्त निजी है। सार्वजनिक है तो इतना कि ऐसी आत्मीयता, ऐसा स्नेह, ऐसा ज्ञान और ऐसी शांति कहीं और नहीं मिलती। मिलकर लगता है, वापस जड़ों को पा लिया हो पेड़ ने जैसे, अब उसे सूखने और मुर्झाने का कोई डर नहीं।

"सत्य वही है जो सरलतम तरीके से भासने लगे आपको, और जिसका सत्यापन आपका अन्तर्मन अविलम्ब कर दे, अन्यथा, वह सत्य नहीं, सत्याभाष होगा, और कभी–कभी मात्र तात्कालिक सत्य होगा।" यह कसौटी भी, सच के अनुयायियों को श्रद्धेय स्वामी जी से ही प्राप्त होती है। सत्य, जो सार्वजनीन है, सार्वकालिक है, न काल की अपेक्षा रखता है न देश की, सार्वत्रिक रूप से सत्य है, सदा–सदा, वह ही ऋत है, जिसका प्रकटन ऋग्वेद में हुआ।

जितना कुछ वेद को मैंने जाना है, श्रद्धेय स्वामी जी से ही सीखा है, जाना है और प्रयासरत हूँ।

वस्तुतः तो वेद, अनेकों विद्वानों के विद्वतापूर्ण भाष्यों के ढेर में खो गए हैं जैसे कि बहुमूल्य हीरे की अँगूठी, कूड़े के किसी विशालकाय ढेर में खो जाए।

आज से लगभग 46 वर्ष पूर्व लखनऊ में नवरात्र के अवसर पर प्रकट किए गए वेद के रहस्य जो स्वामी जी के श्रीमुख से निस्सृत हुए, वे निरन्तरता में सम्पूर्ण वेदों, सनातन दर्शन की वास्तविक कुंजिकाएं हैं, जिनका पारायण यथाक्रम से नवरात्र में विशेषतः और सदैव ही, सामान्यतः जो भी करेंगे, मनन करेंगे, वे वेदों के रहस्यों को जानने की क्षमता प्राप्त करने की दिशा में सक्रिय कदम उठाएंगे, इसमें सन्देह नहीं।

यह संभवतः इस युग में एक स्वर्णिम अवसर है, सनातन दर्शन, वेद और अध्यात्म की सही राह पर चलने का, और यह आशीर्वाद स्वरूप श्रद्धेय स्वामी जी ने ही अवसर दिया है मुझे, कि मैं निमित्त बनूँ ,"**द टाइम्स आग के फूल**" आप तक पहुँचाने के

लिए ताकि आप सब स्वयं इस अमर ग्रंथ में संकलित श्रद्धेय स्वामी सनातन श्री जी के ज्योतिर्मय विचार स्फुल्लिंगों को धारण करने के साथ ही पवित्र सरयू के तट पर पहुँच सकें, उसके रस में सराबोर हो सकें, अपने आपको पहचान सकें और हो सके तो अपने असली स्वरूप को पा सकें। महामुनि याज्ञवल्क्य, बाल्मीकि तथा नाना ऋषियों द्वारा पूर्व में मुखरित श्री राम कथा के अनन्य रहस्य, जब श्रद्धेय स्वामी जी के श्रीमुख से अनावृत होते हैं, तब तुरन्त लगने लग पड़ता है कि सभी पूज्यनीय ऋषिगण, भगवान राम की कथा के बहाने से हमें हमारी ही गाथा सुना रहे हैं, हमें हमारी उत्पत्ति और जीवन संपादन का स्वरूप दिखला रहे हैं, हमें सरलतम तरीके से वेद पढ़ा रहे हैं जिनके बारे में कालान्तर में यह भ्रम फैला दिए गए कि वेद समाज के एक वर्ग विशेष के लिए ही पठनीय हैं और समाज के एक दूसरे वर्ग विशेष के लिए तो इसका नाम तक लेना अपराध है। ऐसी ही भ्रान्त धारणाओं और मान्यताओं को बलिष्ठ करते जाने की चालाकियों से सम्पूर्ण विश्व का भरण पोषण करने वाले इस भरत खण्ड, **भारत** के अब विघटन तक की नौबत आ पहुँची है। ऐसे में जब आपको अपना स्वयं का शुद्ध आध्यात्मिक परिचय इस ग्रन्थ में मिलता है तो मानो आपका पुनर्जन्म सा होता है, जिसे आपका 'द्विज' होना ही कहा जाएगा, "जन्मना जायते शूद्राः संस्कारात् द्विज उच्यते" की उक्ति आप पर चरितार्थ हो उठती है। जब तक आपको अपना स्वयं का सही परिचय नहीं मिलता, भला आप याज्ञवल्क्य, बाल्मीकि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, **मेधातिथि काण्व** और नारद जैसे ऋषियों का परिचय क्या पाएंगे? श्रद्धेय स्वामीजी सदा ही आपको अपने आपसे परिचित होना सिखाते हैं, आपको अपनी भूली हुई अस्मिता के दिग्दर्शन कराते हैं। जब आप रामकथा में प्रवेश करेंगे तो प्रत्येक प्रसंग में आप अपने आप को वेद के सम्मुख पाएंगे जहाँ पुनः पुनः स्रष्टा आपको आपके विशद् स्वरूप को दिखाकर आपके जीवन के हर अंग में से दृश्यों को उठाकर, समष्टि से जोड़ने और उस स्रष्टा से योगकर स्वयं स्रष्टा हो जाने का आहवान् करता दिखेगा, चाहे वह जानकी की अग्नि परीक्षा हो या पवित्र सरयू के तट का प्रसंग। जहाँ आप ईशावास्योपनिषद् का रहस्य जानेंगे कि यह आपके द्वारा अर्जुन की भाँति महाभारत विजय कर लेने के बाद की यज्ञ स्तुति है, वह यज्ञ जो सम्पूर्ण सचराचर की सृष्टि और संचालन का मूल है, जिसे आत्मा हर जीवधारी के अंतस में आपके अंतस की भाँति ही नित्य कर रहा है, वहीं आप ज्योतिर्वेद के विभिन्न सोपानों की चौथी पायदान चढ़ते हुए पवित्र ऋग्वेद के महान ऋषि मधुछन्दा के उपरान्त एक और महान ऋषि **मेधातिथि काण्व** के आश्रय से वेद की ऋचाओं को अपने अंतस में रहस्यों को अनावृत करते हुए पाएंगे, जो श्रद्धेय स्वामी सनातन श्री जी की असीम अनुकम्पा से ही सम्भव हो सका है।

आप सब पाठकों को ईश्वरत्व प्राप्त हो, श्रद्धेय स्वामी जी का अनुग्रह और आशीर्वाद हो और उच्चतम ज्योतिर्मय जीवन हो आप सबका।

राजेश्वरी शंकर
संपादिका ('द टाइम्स ऑफ एस्ट्रोलॉजी)
ज्योतिर्वेद की सर्वोत्कृष्ट पत्रिका
आर 12 ए, हौज खास नयी दिल्ली – 110 016
फोन : 011–26512423, 0522–2769462
Email:*editor@jyotirved.com*

सन्यासी से परिचय

आज से लगभग छियालीस वर्ष पूर्व एक अदभुत तपस्वी का लखनऊ नगर में पदार्पण हुआ। विशाल देह, आजानु बाहु, चिर मुस्कान लिये ज्योतिर्मय शुभ आकृति! उस महान व्यक्तित्व ने नौ दिन के प्रवचन में { जो बाद में सनातन दर्शन नौ अध्याय अथ पृष्ठभूमि नामक, अमर ग्रंथ के रूप में प्रकाशित हुआ} जन मानस को ऐसा मोह लिया कि कोई भी उससे बिछुड़ने को तैयार न था।

परन्तु संन्यासी रुकने को तैयार न था। कारण? गृहस्थ और संन्यासी धर्म की अपनी मर्यादा है। गृहस्थों के बीच संन्यासी को अधिक समय नहीं रहना चाहिये। शेर और संन्यासी जंगल में ही

शोभा देते है। उसका स्पष्ट मत था जो अटल था।

कुर्सी रोड पर अलीगंज हनुमान मन्दिर से लगभग चार किलोमीटर आगे "श्री सनातन आश्रम" की स्थापना हुई। संन्यासी रुक गया।लखनऊ वासियों के प्रेम के वशीभूत जैसा हो ।

आश्रम बना। आत्म ज्योतियों से वातावरण मुखरित हो उठा। भक्त मित्रों ने कहा, "स्वामी जी अब चेला बनाइये, अन्यथा आश्रम खर्चा कैसे चलेगा?"

"चेलों के सहारे यह संन्यासी जी लेगा परन्तु जिनके नाम का वस्त्र धारण किया है उनके सहारे कब जियेगा? सनातन स्वामी आगत को ईश्वर ही जानेगा! सेवा करेंगे तथा चरण रज से अधिक कामना नहीं होगी! जैसे नारायण रखेंगे, वैसे ही सबकी सेवा करते हुए तपेंगे! इच्छा जब नारायण से नहीं तो संसार से कैसी कामना?" संन्यासी का उत्तर था!

वर्षो उपरान्त! एक क्षण, एक शब्द भी तो नहीं बदला। पावन संन्यासी ने न तो कभी किसी से इच्छा की, न ही चेला आदि का विचार ही उभरने दिया।

"पुष्प और सन्त "
परहित में मुस्कराते हैं। स्वामित्व की संकीर्णता में–
कुण्ठित हो, मर जाते हैं। कृपया इन फूलों को न तोड़ें।
स्वामी सनातन श्री

आश्रम के द्वार पर आते ही पुष्प वाटिका में लगा उक्त पट आगन्तुक का मौन, किंतु अन्तर से मुखर स्वागत करता है।

लखनऊ नगर से उत्तरायण सनातन आश्रम पड़ता है। अलीगंज चुंगी से लगभग डेढ किलोमीटर आगे। चुंगी से आगे बढ़ते ही शहर का शोर भरा वातावरण पीछे छूट जाता है। साथ ही आधुनिकता की उकता देने वाली नकली व्यावहारिकता। दूर–दूर तक फैलै हरे–भरे खेत और बागीचे सड़क के दोनों ओर पंक्तिबद्ध खड़े विशाल झुकते पेड़ों का अलौकिक दृश्य, संन्यासी से मिलने की अभिलाषा तीव्रतर होती जाती हैं। फिर आश्रम का सामीप्य और पुष्प, लताओं और पेड़ों के समूहों का मौन स्वागत। शान्त, नीरवता में मूक प्रार्थना–पट! पुष्प

और.....

बरामदे में कदम रखते ही कुछ और पट नेत्रों को आकृष्ट करते हैं। आश्रम की लक्ष्मण रेखाओं का भान कराता एक पट तो दूसरा "

"आप जब प्रणाम करते हैं अथवा चरण रज लेते हैं तो आपकी श्रद्धा आस्था एवं अपने संकोच के कारण यह संन्यासी आपको रोक नहीं पाता है!

अन्यथा, आपके चरणों की धूल ही इस संन्यासी का चन्दन तिलक है।

अच्छा हो, आप मन ही मन प्रणाम करें तथा ऐसा कुछ न करें जो संकोच का कारण हों।"

गुरुता की गरुता का भार ढोये कौन!
जन–जन की चरण रज को।।
हम भाल तिलक जानते हैं।
स्वामी सनातन श्री

आगन्तुक स्तब्ध पट को देखता रह जाता है, एक संन्यासी इतना अकिंचन! वह आगन्तुक का प्रणाम नहीं, चरण रज चाहता हैं तभी दूसरा पट्ट––

"मन्दिर, मस्जिद, गिरजा, गुरूद्वारे,
मानव प्रेम के सबल सहारे।
सावधान! धर्मद्रोही हत्यारे।।
बना न दें कसाई बाड़े।
हर एक राह, नेक राह।।
स्वामी सनातन श्री

प्राणीमात्र में ईश्वर को देखने की बात तो सारे सम्प्रदाय और गुरू कर्णधार करते आये हैं परन्तु क्या किसी ने.....।

सद्गन्थों में, अतीत कथाओं में, हमने पढ़ा एवं सुना था कि आश्रमों में पशु–पक्षी भी मनुष्यों की तरह बोलते हैं।श्री सनातन आश्रम में आज भी आपको ऐसा सुखद आश्चर्य होता है जहाँ कुत्ते बिल्लियां और जंगली पशु–पक्षी भी वाणी से वरद् होकर ईश्वर का नाम जप एवं ध्यान करें। जहाँ कुआरी बछियां भी स्तन से दूध गिरावें। जो

अविश्वसनीय है तथा कथाओं में ही मिलता है उसका प्रत्यक्ष दर्शन कराते आश्रम के पशु, भक्त को स्तब्ध कर देते हैं। अतीत की कथाओं पर अनायास विश्वास हो उठता है।अकिंचन, किसी से कोई इच्छा नहीं, फिर भी सारे भारत में मुफ्त बँटती किताबें नाना प्रादेशिक भाषाओं में, सब कुछ एक सपने सा लगता है फिर भी इतना सत्य और प्रत्यक्ष कि प्रमाण का प्रश्न ही नहीं।

अतीत की मर्यादाओं का निर्वाह भी कितना स्पष्ट एवं पाखण्ड से रहित। आश्रम में प्रवेश पाते ही आगन्तुक की निगाहें सूचना पट पर टिक जाती है।

"अनन्त काल से सूर्य और पृथ्वी असीम प्यार की डोर में बँधे एक दूसरे के लिए तपते, और फलते फूलते हैं, परन्तु एक दूसरे से मिलते नहीं हैं। मिलन दोनों का सर्वनाश ही तो है।

संन्यासी और गृहस्थ का प्रेम सूर्य और पृथ्वी की भांति ही है " संन्यासी तपे जिससे गृहस्थ, सदगृहस्थ बन वासना और अज्ञान जलाकर सुखपूर्वक फलें फूलें। पृथ्वी और सूर्य की भांति अपनी सीमाओं और लक्ष्मण रेखाओं का सम्मान करते हुए।

आप हमारी और अपनी मर्यादा एवं दूरी का सम्मान करते हुए हम सन्यासियों को सेवा का अवसर दें। संकोच का कारण न बनें।

धन्य है वे लोग जो इस आश्रम में आते हैं। धन्य है यह आश्रम जो सनातन मूल्यों को अनायास और सहज ढ़ग से जनमानस में स्थापित करता चल रहा है। धन्य हैं स्वामी सनातन श्री, उनका स्नेह और आशीर्वाद जो सर्व सुलभ है, साक्षात आश्रम में, उसके कण–कण में और उनकी वाणी में जो कैसेट्स और पुस्तकों में शाश्वत रूप से अक्षुण्ण रहेगा, ज्ञान और विचार क्रांति से जनमानस को उद्वेलित करते हुये, सदा ही ।

।।नारायण हरि।।

1

आग के फूल

जब ईश्वर आत्मा होकर बुद्धि का नियंत्रण नहीं लेते, मनुष्य की बौद्धिक स्वतन्त्रता को पूर्ण सम्मान देते हैं तो तुम भी अपनी बौद्धिक स्वतन्त्रता को कहीं गिरवी मत रखो; साथ ही किसी की बौद्धिक स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित मत करो। तुम अपने विचार लोगों के समक्ष रखो और उन्हें स्वतन्त्र रूप से निर्णय लेने का असवर दो।

जीव की भाषा न तो हिन्दी है न रूसी और न ही अंग्रेजी है, जीव की भाषा है।।लीला। लीला शब्द का अर्थ है सत्य का नाटकीय प्रस्तुतीकरण।

जब तुम बोरी भर राख से एक दाना गेहूँ न बना सके; थाली भर खाने से एक बूँद रक्त भी न बना सके, तुमने किसका पेट भरा? लड़का पैदा किया? पेट भरने का और पिता बनने का एक नाटक ही तो किया था? इसलिए यूनिवर्सिटि के सारे पोथे और डिग्रियाँ बटोरकर भी जब तुम भौंह का एक रोम न बना सके तो विद्वान कहाँ थे? विद्वता का नाटक हीं तो किया था? इसलिए ईश्वर भी जब तुमको पढ़ाने आते हैं तो तुमको तुम्हारी ही भाषा में अर्थात् लीला में पढ़ाते हैं।

मन्दिर क्या है? लीला के माध्यम से तुमको तुम्हारा ही स्वरूप पढ़ाया गया है। जब तुम ध्यान में पल्थी लगाकर बैठते हो; पल्थी के ही जैसा चबूतरा, धड़ के जैसा ही चबूतरे पर गोल कमरा, सिर का जैसा मन्दिर का गुम्बद, जटाओं के जूड़े सा कलश। आत्मा जैसी मूरत–बन गया मन्दिर। जैसे छोटा बच्चा कबूतर, खरबूजा, गोभी के माध्यम से क ख ग पढ़ता है उसी तरह मन्दिर और मूरत के माध्यम से इस शरीर रूपी मन्दिर और आत्मा रूपी मूरत को पढ़ डालो।

क्या तुम भगवान राम की मूरत पर शराब, मांस, गांजा, भांग तम्बाकू चढ़ा सकते हो? यदि तुम मन्दिर की मूर्ति पर

यह नहीं चढ़ा सकते हो, तो साक्षात् परमेश्वर है, इस शरीर मन्दिर में, पर कैसे चढ़ा रहे हो?

क्या तुम मन्दिर में बैठकर किसी को गाली अथवा किसी के प्रति गन्दे अथवा कोई घृणित कार्य कर सकते हो? जिसकी मूरत के समक्ष ऐसा करने से तुम घबड़ाते हो, वही तो साक्षात् तुम्हारे भीतर बैठा है उसके सामने यह सब कैसे कर रहे हो?

परमेश्वर ने आत्मा होकर तुम्हें साँस और धड़कन दी; जीवन का प्रत्येक क्षण दिया, उन्होंने आत्मा होकर कोई फीस ली? जब परमेश्वर आत्मा होकर निष्काम सेवा द्वारा तुम्हें साँस और धड़कन देते है तो उन साँसों और धड़कनों को निष्काम सेवा में लगा दो। ईश्वर द्वारा निष्काम भाव से बनाए इन हाथों को प्राणीमात्र की निष्काम सेवाओं को समर्पित करो। यह हाथ लूटने–खसोटने के लिए नहीं हैं।

घट–घटवासी राम आज भी आत्मा होकर तुम्हारी जूठन को रक्त में बदल रहें है। राम आज भी हर शबरी के जूठे बेर खाते हैं। सम्पूर्ण जगत् आत्ममय जानों। जब आत्मा भेद–भाव नहीं करता तो इस संकीर्णता के ऊपर उठो। आत्मा द्रोही धर्मात्मा नहीं कहलाता।

नदी और सन्त, भेदभाव से दूर।
निर्बाध " अनन्त, नदी और सन्त।।

तुम कहते हो परमेश्वर सर्वव्यापी है, सर्वत्र है तो तुम्हीं बताओ कि वह किसी सम्प्रदाय का कैसे हो गया है? तुमने उस परमेश्वर को सम्प्रदायों की संकीर्ण डिब्बियों में कैसे बन्द कर लिया?

जो ऊँच–नीच भेद–भाव और सम्प्रदायों की संकीर्णताओं से ऊपर न उठ सका उसने कभी धर्म को नहीं जाना। आत्मा और प्रकृति का धर्म ही मूल धर्म है। जब ईश्वर आत्मा होकर पेड़ों में, पशु–पक्षियों में, भरतवंशी, मुस्लिम, सिक्ख और ईसाई सभी में व्याप्त है; आत्मा होकर उसने ऐसे किसी भी भेद–भाव को नहीं स्वीकारा तो इस संकीर्णताओं से ऊपर उठकर आत्मा की भाँति ही स्वयं को अन्तर्ब्रह्माण्डीय स्वरूप दो।

तुमने घर में गाय को जन्जीर में बाँध रखा है। क्या गाय बँधी है?

कल्पना करो खूंटा टूट गया और गाय जन्जीर लिए जंगल में भाग गई। एक शैतान लड़के ने जन्जीर निकाल ली और भाग गया। अब बताओ क्या गाय को जन्जीर खो जाने का दुःख है? नहीं।

दुखी तो तुम हो कि दस रुपये की जन्जीर खो गई। **अब बताओ उस जन्जीर से गाय बँधी थी अथवा तुम?** गाय बँध कर भी नहीं बँधी थी और तुम बिन बँधे भी बँधे हुए थे। भव बन्धन काटो! राम से बँधना सीखो।

अहम् के खूंटे पर, स्वामित्व की गांठो से, वासनाओं की रस्सियों द्वारा यह जीव बँधा हुआ है। अहम् के खूंटे को नष्ट कर दो; स्वामित्व का त्याग करो, वासनाएँ स्वतः निष्क्रिय हो जायेंगी।

ईश्वर ने आत्मा होकर जन–जन की सेवा में सम्मान ढूंढा है यदि सम्मान चाहते हो तो आत्मा की ही भाँति प्राणीमात्र की निष्काम सेवा करो इन्द्रियों को आत्मा का आभूषण जानो। इन्द्रियों का प्रयोग आत्मयज्ञार्थ करो।

जो भोजन तुम ग्रहण करते हो, वही तो रक्त मांस में बदल कर गर्भ में बालक का स्वरूप ग्रहण करता है। जैसी सन्तान चाहते हो, वैसा भोजन ग्रहण करो। जब बकरा और मुर्गी शराब की बोतल के साथ बेटा बनकर लौटेगा; तो तेरे घर का सर्वनाश कैसे नहीं होगा? तुमने अपने पितरों को भस्मी में बदल वनस्पतियों को प्रदान किया था; वही भस्मी ही तो वनस्पति बन फलों में लौटी है। उन्हें वनस्पतियों से अपने घर लाओ। भोजन में उन्हीं वनस्पतियों को ग्रहण करो जिससे तुम्हारे पितृ तुम्हारे पुत्र बन लौट सकें। शुद्ध और सात्विक भोजन लो।

ईश्वर ने तुमको गाय, बैल जैसे दाँत दिये हैं जो कि वनस्पतियों को ही काट सकते हैं। यदि ईश्वर की इच्छा मांस खिलाने की होती तो बिल्ली अथवा चीते जैसे दांत देता! गाय, बैल पशु होकर भी उसकी आज्ञा का अनुसरण करते हैं। फल–फूल ही खाते हैं। मनुष्य होकर ईश्वर की आज्ञा का अवहेलना मत करो।

पिता की मृत्यु हुई घर में छूत वास कर गई। चिता की लकड़ियों पर उसका शव तुम जला आये। क्या मुर्गा और बकरी का शव तुम्हारे

पिता से पवित्र है जो उसको इस शरीर रूपी मन्दिर में रख लिया? प्राचीनकाल में जब तपस्वी ऋषि यज्ञ करते थे तो, पिशाच, यज्ञ में मांस और मदिरा फेंककर यज्ञ का विध्वंस करते थे। आज भी आत्मा हर शरीर में ऋषि होकर यज्ञ करता है और पिशाच एवं पतित व्यक्ति उस यज्ञ को विध्वंस करते हैं। मांस मदिरा का सेवन मत करो।

वेद ने कहा यदि यह शरीर तेरा मन्दिर न बना; जीव होकर तू इस मन्दिर का पुजारी न हुआ; आत्मारूपी ईश्वर को जाना नहीं। अरे; तो तू किसी मन्दिर न गया! कोई तीर्थ न किया! किसी ईश्वर को माना नहीं।

जो सातवें आसमान पर रहता है उसकी चिन्ता तुम क्यों करते हो? सारे ब्रह्माण्ड का सूक्ष्म स्वरूप तुम स्वयं हो। सातों आसमान तुम्हीं में रहते हैं और सातवें आसमान में रहने वाला परमेश्वर आत्मा होकर तुम्हीं में वास करता है। उससे भीतर जाकर मिलो।

ईश्वर की लिखी किताब प्रकृति ही तो है, जिसे वह आज भी आत्मा होकर अपनी कलम से लिख रहा है, जिसका एक अक्षर तुम स्वयं हो। यदि ईश्वर के लिखे ग्रन्थ को पढ़ना चाहते हो तो स्वयं को पढो। इस ग्रन्थ के हर अक्षर में सारे ग्रन्थ की गाथा छिपी हुई है। हर अक्षर स्वयं में पूरा ग्रन्थ है। इसे पढ़ डालो जो तुम स्वयं हो।

सूखी गाय को सूखा चारा देते हो, हरी गाय हो हरा। तुम्हारे ही पुत्र तुम्हारे इस व्यवहार को संस्कारवत् ग्रहण करते हैं तो बुढ़ापे में तुम्हारे साथ सूखा व्यवहार करते हैं। **यदि चाहते हो कि तुम्हारी सन्तानें अन्त तक तुम्हें सम्मान दें तो सूखा और हरा नहीं, हरा ही हरा व्यवहार करो। सात्विक भोजन के साथ ही सात्विक विचार एवं पवित्र आचरण के संस्कार दो!**

'हिरण्य' का अर्थ है सुनहरा; 'कशिपु' का अर्थ है बिस्तर! वासनाओं का सुनहरा बिस्तर ही प्रह्लाद का पिता हिरण्यकशिपु हैं। 'प्र' अर्थात् अमर! 'ह्लाद' का अर्थ है मस्ती। आत्मा की अमर मस्ती ही प्रह्लाद है। तुम अपने पुत्र को सुनहरी वासनाओं का भ्रमात्मक बिस्तर दे रहे हो अथवा आत्म ज्ञान की अमर मस्ती। तुम पूछो स्वयं

से हिरण्यकशिपु हो अथवा प्रहलाद।

दस इन्द्रियों को रखने वाला अर्थात् लगाम लगाने वाला 'दशरथ' और दस इन्द्रियों को दसमुख बनाने वाला दशानन रावण है। घट–घटवासी आत्मा राम हैं। **दशरथ बनो! राम तुम्हारे शरीर आंगन में खेल रहा है भीतर झाँको!!**

दस इन्द्रियों के अर्जन { संकलन } से अर्जित यह बुद्धि ही तो अर्जुन है। यज्ञोपवीत गाण्डीव है। शरीर रथ है। अमर आत्मा कृष्ण सारथि है इस शरीर रथ के। मायाओं का महासमर ही महाभारत है।

यज्ञोपवीत के गाण्डीव पर वाह्य चिन्तन की भ्रान्तियों को सत्य, ज्ञान, भक्ति, विरक्ति और ब्रह्मचर्य के पैने बाणों द्वारा नष्ट करते हुए; दस इन्द्रियों रूपी दस फन वाले कालिया नाग को नथ; अन्तर्मुखी हो बुद्धि और आत्मा के द्वैत को योगमार्ग से अद्वैत करना ही मात्र लक्ष्य है इस मानव जन्म का, इस **महासमर को कृष्ण के अर्जुन सा लड़ो।**

सृष्टा { Creator } कहाँ है? जहाँ सृष्टि { Creation } है। तुम्हारी माँ सृष्टा { Creator } है अथवा सृष्टि { **Created** }? परन्तु तुम्हारी माँ ने तुम्हें उत्पन्न किया। क्या सृष्टि { **Created**} सृजन { Creation } कर सकती है? वह तो एक अंगुली भी नहीं बना सकती। तब माँ के गर्भ में तुमको किसने सृजन द्वारा बालक रूप प्रदान किया? उसे हम क्या कहेंगे? सृजक { Creator } परमेश्वर।

इस प्रकार जो सातवें आसमान में रहता है वही सृजक { **Creator**} घट–घटवासी होकर सम्पूर्ण सचराचर को सृजन द्वार अहर्निश प्रकट रहा है। नुक्ते के महत्व को जानो–खुदा को जुदा न करो।

रोगी अच्छे से अच्छे डाक्टर को ढूँढता है क्या तुमने उस डाक्टर के विषय में सोचा जो भस्मी के ढेर को बालक बना देता है। वही तो बालक को देवत्व देगा, मात्र डाक्टर को पहचानो। **आत्मा होकर यह डाक्टर तुम्हारे भीतर बैठा है। भीतर चलो।**

कर्म त्याग से संस्कार नष्ट नहीं होते, जब तक उन्हें ज्ञान की

अग्नि में भस्मसात् न किया जाये। बुराइयों को केवल कर्म से ही मत त्यागो, उसे चिन्तन से भी मिटा दो।। यह ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। ज्ञानियों का सत्संग करो।

कर्म के तीन अंग हैं।। लक्ष्य {Aim }, चिन्तन {Planning} और क्रिया { Action }। लक्ष्य को धारण करना कर्मफल नहीं है। किसी भी कर्म को करने में उत्पन्न होने वाली मनस्थितियाँ यथा राग–द्वेष, घृणा, क्रोध, लिप्सा, अनाधिकार चेष्टाएँ, झूठ, चोरी आदि कर्मफल हैं। किसी भी कर्म को इन मनस्थितियों के साथ जोड़ नष्ट मत करो। आत्म यज्ञार्थ कर्मयोगी बनो। कर्म को सूक्ष्मता से जानो।।सत्संग करो।

चिन्तन कर्म है, चिन्ता कर्मफल। चिन्ता अमृत है, चिन्ता विष है। चिन्ता से जुड़ा कर्म महापाप है, चिन्ता से रहित कर्म ईश्वर है।

चिन्ता की उत्पत्ति अहम् से है।। मैं करता हूं। अहम् रावण है। चिन्तन की उत्पत्ति आत्मा से है; आत्मा राम है।।राम से प्यार करो।

तुम्हारे घर कोई व्यक्ति आये तो तुम उसका स्वागत करो, खूब सेवा करो। तभी तो वह दुबारा तुम्हारे घर आयेगा। तुम्हारे घर कोई व्यक्ति आये और तुम उसकी तरफ देखो भी नहीं। तो क्या वह दुबारा तुम्हारे घर आयेगा?

सारा दिन तुमने चिन्ता देवी की स्तुति की। चिन्ता देवी ने कहा कि यह मेरा प्यारा भक्त है, मेरी बहुत सेवा करता है। अब यह तुम्हारा घर क्यों छोड़ेगी? यदि तुम चिन्ताओं का निवारण चाहते हो तो ईश्वर भक्त बनो, चिन्ता देवी के नहीं!

चिन्ता का दुख–सुख मन की उपज है। मानो तो है, न मानो तो नहीं। लिप्साएँ ही इसका भोजन है।

मकान बनाने में कोई दोष नहीं, खुद मकान बन जाना बहुत बड़ा पाप है। अपना मकान स्वयं मत बनो।

दुख करने और रोने से यदि समस्याओं को समाधान हो सके तो हम भजनानन्दी टोले जैसे रोनानन्दी टोले बना दें। क्या समस्या का समाधान हो जायेगा? समाधान तो चिन्तन द्वारा ही सम्भव है।

समाधान ढूँढो। दुःख और आँसू नहीं। दुःख और चिन्ता समाधान के विपरीत हैं।

इन्सान भूख से नहीं मरता; इन लिप्साओं की भूख को मिटाने की प्रक्रिया में मर जाता है। भूख इन्द्रियों की, लिप्साओं की मिटती नहीं, बढ़ती जाती है। भूख मिटाने वाला स्वयं मिट जाता है। इन्द्रियों की लिप्साओं की भूख को मिटाने के बजाय आज तू लिप्साएँ ही मिटा दें, जीवन में आनन्द की धारा अहर्निश होगी।

एक व्यक्ति घर से निकला, झोला है उसके हाथ में। एक खेत के पास से गुजरता है, जहाँ पहरेदार नहीं है। फल तोड़कर झोले में भर लेता है। आगे बढ़ता है और दूसरे खेत में आता है, वहाँ पर एक बालक पहरे पर बैठा है। वह फल तोड़ता है, बालक मना करता है तो उसको डाँट देता है। आगे बढ़ता है और अगले खेत में आता है, जहाँ लोग आलू खोद रहे हैं। उनके साथ बैठकर आलू खोदता है और बदले में कुछ आलू पा जाता है। आगे बढ़ता है और धनिया व पुदीना के खेतों से मिन्नत करके कुछ माँग लेता है। सारा सामान बटोर कर खुशी–खुशी घर चल देता है, सोचता है कि अब तो कई दिन बैठकर खाऊँगा। घर आकर झोला उलटता है, झोला खाली है। हुआ क्या? झोले का पेंदा फटा था, वह ऊपर से माल भर रहा था और राह में बिखर रहा था।

ठीक वही स्थिति तुम्हारी भी है। कहीं चोरी करते हो कहीं डाका डालते हो, कहीं सकाम सेवा में फँसते हो, कहीं भीख मांगते हो और चिता की लकड़ियों पर झोला फिर खाली है। इस झोले को भरने वालो! पहले झोले का पेंदा तो सी लो! स्वयं को पहचानो। आत्मसंगी बनो।

धनुष पर रखकर बाण, डोरी को कान तक खींचकर मैं हवा में छोड़ दूँ। अचानक उस बाण में प्राण आ जाये। तो क्या वह सोचेगा कि किसी ने उसे फेंका है हवा में? वह तो कहेगा कि मैं उड़ा जा रहा हूं। यही स्थिति है तुम्हारी! हर सांस की भीख मांगने वाले, अन्न का दाना–दाना भिक्षा में प्राप्त करने वाले; अज्ञान के कारण मान बैठते है कि वे विधाता हैं। विधाता को पहचानो–आत्म चिन्तन करो!

पैदा हुए तो बारह जन्मों की शूद्रता का प्रतीक बरहा मना घर में छूत वास की। नाल काटने आयी हरिजन दायी। मरे तो इस एक जन्म की शूद्रता का प्रतीक एक दिन और जुड़ा जन्म–काल के बरहा में। तेरहीं हो गयी। जन्म काल का शूद्र अन्त में फिर महाशूद्र हो गया क्यों? चौरासी लाख योनियों की किताब को पढ़ाकर यह प्रकृति तुम्हें मनुष्य योनि में लायी है। **ईश्वर आत्मा होकर परीक्षक है, देह तुम्हारी परीक्षा स्थल है तथा जीव होकर तुम परीक्षार्थी हो। यदि फेल हो जाओगे तो फिर चौरासी लाख योनियों के चौरासी लाख अध्याय पढ़ने जाना होगा; पास होगें तो अमरत्व मिलेगा; यदि कम्पार्टमेन्ट आया तो कुछ योनियों के बाद फिर मनुष्य योनि पाकर इम्तहान के लिए आओगे।** इम्तहान की इस घड़ी को भटकाव में नष्ट न करो। सावधान होकर प्रश्नों के उत्तर दो।

तेज हवा के साथ धूल उड़ी थी। बरसात की बौछारों से फिर धरती पर आ गिरी। फिर वह धूल बन गयी। इन फलों ने बालक का स्वरूप पाया। वह धूल बालक हो गयी। यदि वह आत्मा के साथ अद्वैत कर गयी तो ईश्वर के चरणों का स्पर्श पा ईश्वर हो गयी अन्यथा तेज वर्षा के साथ उड़ती हुई धूल को पुनः धरती पर आना होगा। यदि तुम स्वयंको ईश्वर भक्त कहते हो तो इस धूल को, जो तन है तुम्हारा, भगवान् बना दो– ईश्वर की राह चलो ईश्वर बनो।

तीन भाव हैं। देहभाव, जीवभाव और आत्म भाव।

देहभाव से, हे ईश्वर! मैं तुम्हारा दासानुदास हूं। जब तक मैं शरीर की सीमाओं में हूं, इस जगत को देह की सीमाओं के द्वारा ही धारण करता हूं, अपने–पराये, ऊँच–नीच के भेद–भाव से जीता हूं तो देहभाव में रहता हूं उस समय मेरी स्थिति दासानुदास की है।

जब जीवमात्र में भेद न करूँ, प्राणीमात्र से अतीन्द्रिय प्रेम हो मेरा तो मैं जीवभाव में आता हूं और तब ईश्वर का पुत्र हूं–'ईश्वर अंश जीव अविनाशी'।

जब पाँच महावाक्यों के मार्ग पर चलता **'सोऽहं'** को प्राप्त होता है तो मैं ईश्वर हूं।

तुम जिस मन ''स्थिति में हो उसके ही सत्य का आचरण करो अन्यथा महापापी होंगे। जब तक पत्नी, पुत्र, मकान और दुकान दिखते हैं तब तक दासानुदास बनो, जब प्राणीमात्र में समभाव दिखे तो पुत्र हो जाओ और जब सृजन के सारे रहस्यों को पाकर सृजक की सामर्थ्य को धारण करो तो स्वयं को ईश्वर घोषित करो। दासभाव से पुत्रभाव में आओ और पुत्रभाव से सर्वव्यापी हो जाओ।

स्वर्ग और नर्क, दिन और रात की ही बात है। स्व+अर्क=स्वर्ग। स्व माने आत्मा, अर्क माने सूर्य। जो आत्मारूपी सूर्य में स्थित हुआ उसे स्वर्ग हुआ। न+अर्क=नर्क। जो आत्मारूपी सूर्य में स्थित नहीं हुआ भौतिक जगत में भटका उसे नर्क हुआ। बाहर भटकने वाला नर्कगामी है और आत्मा में स्थित होने वाला स्वर्ग का राही है। बाहर का मार्ग धूम्रमार्ग तथा बाहर का यान है पितृयान। आत्मा में स्थित होने वाला मार्ग शुक्ल का अर्थ है उज्ज्वल। उज्ज्वलता का उद्‌गम है आत्मारूपी सूर्य। आत्मा का दूसरा नाम है देव। आत्मयान ही देवयान है। आत्मा में स्थित हो।

ईश्वर ने तुम्हें उत्पन्न किया, यदि इसलिए तुम ईश्वर को मानते हो तो मत मानो, यह उसका कर्त्तव्य है। ईश्वर तुम्हें साँस और धड़कन देते हैं वे नहीं देंगे तो तुम मर जाओगे, इस भय से यदि तुम ईश्वर को मानते हो तो मत मानो। ईश्वर ही तुम्हें दुबारा मनुष्य योनि में देने में सक्षम है। इस लालच से यदि तुम ईश्वर को मानते तो मत मानो। हाँ! यदि **तुम ईश्वर की राह चल ईश्वर बनना चाहते हो तो उसे मानो, पहचानो, ढूंढो और उससे लिपटकर ईश्वर बन जाओ।**

एक पेड़ पर दो फल लगे। एक वहीं पर गिर पड़ा, सड़कर फिर मिट्‌टी हो गया। दूसरा एक स्त्री ने खाया और उसके गर्भ में बालक हो गया। एक ही प्रकार के फल की दो गतियाँ हो गयीं इसी प्रकार तुम्हारी भी दो गतियाँ हैं, या तो पेड़ से गिरे फल की भांति इस जीवन को भस्मी में बदल दो।।मिट्‌टी हो जाये अथवा उस अमर तत्व को पाकर उसके ज्ञान को धारण करके उन्हीं क्षमताओं को प्राप्त होकर तुम उत्थान को प्राप्त हो।

एक धूम्र मार्ग है, दूसरा शुक्ल मार्ग। एक पितृयान है, दूसरा देवयान। एक अन्धकार में डूबता है।।धुयें सा धुंधला हो जाता है और दूसरा शुक्ल ज्योतियों को धारण करता नित्य ज्योति हो जाता है।

देवयान के पाँच महावाक्य पंचज्योति स्तम्भ हैं–तत्वमसि, तेजोऽसि, एकोब्रह्म–द्वितीयोनास्ति, अहम् ब्रह्मास्मि तथा सोऽहं।

'तत्वमसि' तुम्हारी धारणा–धारणा का पुष्ट साँचा बनाओ।

'तेजोऽसि' ध्यान है–ध्यान की जगमग ज्योति जलाओ।

'एकोब्रह्म द्वितीयोनास्ति' तुम्हारी समाधि है। समाधि का अर्थ है सर्वत्र उस ईश्वर को देखना; सोते–जागते, उठते–बैठते, चलते–फिरते आत्मा के ही सन्मुख रहना। एक ब्रह्म को सम्पूर्ण सचराचर में धारण करना ही समाधि है। सम्पूर्ण जगती को वासुदेवमय जानो।

'अहम् ब्रह्मास्मि' वासुदेवमय बनने की प्रक्रिया है। आत्मवत् आचरण, आत्मवत् प्रेम, आत्मयज्ञार्थ चेष्टाएँ, निरन्तर आत्म साधना तथा सम्पूर्ण सचराचर से आत्मीयता, अहम् ब्रह्मास्मि का मार्ग है। आत्मा में ही सारी क्रियाओं का–सारे क्षणों का यज्ञ अहम्ब्रह्मास्मि है।

यज्ञ की पूर्णता है योग–इसे कहते हैं **'सोऽहं'**। जीव { Consiousness } और आत्मा { Creator} का मिलन।। जब जीव { Consiousness } का आत्मा { Creator } से संयोग होगा तो क्या बनेगा? सृजक { Creator } सृजन के रहस्यों को पाकर सृजित सृजक हो गया।। खिलौना खिलाड़ी बना, उपासक उपास्य हो गया। धारणा, ध्यान, समाधि, यज्ञ और योग के शुक्ल मार्ग का अनुसरण करो।

यज्ञोपवीत के तीनों सूत्रों को पहचानों, यह तीन यज्ञों के प्रतीक है।

पहला यज्ञ।। कैसे तुम भस्मी से फलों में आते हो? उस चेतन तत्व की जो भस्मियों को फलों में लौटा रहा है पहचानो। प्रकृति के इस प्रथम यज्ञ के अनुयायी बनो। जीवन की खोज, प्रकृति की इस पुस्तक में, उन वृक्षों से आरम्भ करो। नित्य नये पेड़ लगाओ। जैसे

पुजारी मन्दिर और मूरत की सेवा करता है, उसी प्रकार तुम इन पेड़–पौधे की सेवा करो।

दूसरा यज्ञ।। उन्हीं फलों को एक दम्पति ने भोजन स्वरूप ग्रहण किया। जिसने उन फलों को रक्त–मांस में बदल बालक का स्वरूप दिया? उस घट–घटवासी आत्मा को देह–देह में खोजो। जीवन के इस तत्व को पाने के लिए प्राणीमात्र से प्यार करो। निष्काम सेवाओं को सर्वोपरि स्थान दो।

तीसरा यज्ञ।। आत्म चिन्तन करो। उस आत्मा को जो ईश्वर होकर तुम्हें साँस और धड़कन देता है, उसे पहचानो। आत्म ज्ञान को धारण करो। शरीर सामग्री को आत्म ज्वालाओं में यज्ञ कर, ब्रह्मत्व को धारण करो–खिलौने से खिलाड़ी बनो।

यह तीन सूत्रों का यज्ञोपवीत धनुषाकार क्यों पहनाते हैं? इसलिये कि तुम मायाओं के महासमर के महारथी हो। असत्य, अज्ञान, व्यभिचार तथा आत्मद्रोही वृत्तियों से योद्धा की भाँति यज्ञोपवीत के गाण्डीव पर त्याग, वैराग्य, प्रेम, सत्य, तप साधना और निष्काम सेवा के अस्त्रों से युद्ध करो। जीत कर स्वर्गारोहण करो।

दिन कहाँ है? जहाँ सूर्य है। सूर्य कहाँ है? वह तो आत्मा है। क्योंकि आत्मा रूपी सूर्य के हटते ही सहस्त्र सूर्य क्यों न जगमगायें, मुर्दे की आँख को रोशनी नहीं मिलती। इसीलिये मेरा सूर्य तो मेरी आत्मा है जिसके प्रकाश से बाहर वाला सूर्य शीशे की भाँति चमकता है। मेरा दिन मेरे भीतर है, बाहर अंधेरी रात है। यदि रात न होती तो आत्मा रूपी लालटेन के बिना भी पत्नी–पुत्र दिखते? फिर आत्मारूपी लालटेन की जरूरत क्यों होती? परन्तु इस लालटेन के छिनते ही कुछ नहीं दिखायी देता। जो दिन में सोता है वह पापी होता है, जो रात में जागता है उसे निशाचर कहते हैं।

दिन में जागो अर्थात् भीतर जागो, रात में सोओ अर्थात भौतिकताओं से विरक्त हो।

मैं कौन हूं शरीर अथवा आत्मा? न शरीर, न आत्मा। मैं तो जीव { Consciousness } विचारों की सीमाओं के बाहर मेरा अस्तित्व नहीं। यही जीव { Consciousness } जब प्रकृति से

अद्वैत करे तो ऋषि है। व आत्मा से जुड़ जाये तो ईश्वर है और जब इन्द्रियों के द्वारा भटकता फिरे तो प्रेत है।

हलवाई ने लड्डू बनाये। बहुत से बर्तनों का प्रयोग किया। एक बर्तन में सीरा बनाया। दूसरे में बेसन घोला और तीसरे में घी गर्म किया। इस प्रकार बहुत से बर्त्तनों का प्रयोग कर हलवाई ने लड्डू बनाये। बताओ किस बर्तन ने लड्डू बनाये। उत्तर एक ही आयेगा कि बर्तनों ने लड्डू नहीं बनाये। लड्डू बनाने वाला तो हलवाई है।

ठीक इसी प्रकार यह आत्मा हलवाई ही तो था जो पेड़ रूपी बर्तनों में यज्ञ कर तुम्हें यज्ञ कर बालक का स्वरूप प्रदान किया। वह आत्मा हलवाई ही तो है जो आज भी इस शरीर रूपी बर्तन में जीवन के स्वर्ण क्षण रूपी लड्डूओं को उत्पन्न कर रहा है। बोलो बर्तनों का रिश्ता मानोगे या हलवाई का?

थाल में रखे लड्डुओं को अब तुमने भोगा अर्थात खाया तो थाल के लड्डू समाप्त हो गए। **यदि तुम कहो कि तुम इस जीवन को भोग रहे हो तो तुम क्यों समाप्त हो गए? सोचो! तुम भोग रहे हो अथवा भोगे जा रहे हो।**

काम की वासना जगी। कामुकता ने शुभ और अशुभ का ज्ञान मिटा दिया, वासनाओं की पूर्ति में भटकते फिरे। मैंने इसको भोगा। मैंने उसको भोगा।

मैं पूछता हूं कि तुमने किसको भोगा? यदि नपुंसक होते तो क्या किसी स्त्री को भोग सकते थे? अपनी इन्द्रियों को ही तो भोगा। वह इन्द्रियां चली किसके तेज से? आत्मा के ही, आत्मा और शरीर को भोगने वाला यह जीव {Consciousness} अपनी बन्धता के कारण भटकता फिरता है। जब कि भोगता स्वयं को ही है।

एक इन्द्रिय का दमन करने वाला यदि ब्रह्मचारी है तो हिजड़े सारे ही ब्रह्मचारी कहलावेंगे। ब्रह्मचारी का अर्थ है ब्रह्म के मार्ग का आचरण करने वाला; दसों इन्द्रियों की वासनाओं का दमन करने वाला, इन्द्रियों को आत्मा का आभूषण जान, इनका प्रयोग आत्मयज्ञार्थ करने वाला।

मयूरासन, शीर्षासन, कुक्कुटासन यदि योग है तो सर्कस

के जोकर को क्या कहोगे? योगेश्वर!? योग का अर्थ है जीव { Consciousness} का आत्मा { Creator } से मिलन।। उपासक का उपास्य हो जाना, भक्त का भगवान हो जाना; लोटे के जल का सागर में व्याप्त होकर सागर हो जाना।

व्यक्ति परिवर्तन से सुधार को जन्म दिया जा सकता है, हृदय परिवर्तन की बात करो। दशानन से दशरथ बनो।

कोई तुम्हारे साथ बुरा करे तो, तुम बदले की भावना से बुरा मत करो। क्या तुमनदेव! शत–शत अभिनन्दन तुम्हारा!! तुम हो सर्वशक्तिमान! त्रिलोकेश्वर!! घट–घट वासी! मेरे प्यारे राम! हे कृष्ण! हे माधव!! हे सखा! तुम ही सम्पूर्ण जगत के आदि कारण हो! जगमग दिव्य रूप तुम्हारा है! यही धारणा है मेरी! यही सकार है मेरा! मेरी धारणा के सांचे में – मेरे इष्टदेव––मेरी कल्पना का मेरा स्वरूप पा रहे हो!

कभी किसी आदमी को पागल कुत्ते को काटते देखा है?

चोर ने चोरी की, डाकू ने डाका डाला, तपस्वी ने तप किया; ईश्वर ने घट–घटवासी आत्मा होकर सभी को समान भाव से साँसें और धड़कनें प्रदान कीं। आत्मा होकर आत्मा का धर्म ही निभाया। तुम भी बदले की भावना से प्रेरित होकर आचरण मत करो। जो **तुम्हारा आत्मवत् धर्म है उसी को धारण करो।**

घृणा का बन्धन प्रेम और वासना से अधिक और तगड़ा और विनाशकारी है। यदि किसी ने तुम्हारे साथ बुराई की है तो उसे क्षमा कर दो। यदि वह सुधार नहीं सकता तो उसे अपने चिन्तन से मिटा दो, इससे बड़ी सजा नहीं हो सकती। तुमने उसकी हत्या भी कर दी और दोषी भी नहीं हुए।

आनन्द कहाँ है? जहाँ आत्मा सर्वानन्द है। मिठास वहीं है जहाँ मधुर गोपाल आत्मा है। अपने ही अन्तर के आनन्द को हर व्यक्ति भोग रहा है और इन्द्रियों के इन्द्र–जाल में फँसा स्वयं से अभिशप्त, स्वयं से अन्धा, आँधी में पड़े टूटे पीपल के पत्ते सा खड़खड़ाता है। निज स्वरूप को पहचानो–सत्संग करो।

मन संशय रहित हुआ किसका? आत्मा को संशय हुआ कब?

बुद्धि के संशयों को निवारण चाहने वालो! इसे मन के संग से हटा, आत्मसंगी बना दो, संशय रहेगा न बाकी। **आत्म चिन्तन करो। सत्संग करो!!**

बाजार में सामान खरीदने जाते हो तो एक ही चीज को कई दुकानों पर देखते हो, तुम सामान खीदते हो अथवा दुकानदार? आध्यात्म के बाजार में अमृत को बटोरो, ठेकेदारों को नहीं–सौदा खरीदो, सौदागर नहीं।

गुरुता की गरुता का भार ढोये कौन?
जन–जन की चरण रज को,
हम भाल–तिलक जानते हैं।

संन्यासी किसी देश प्रदेश अथवा जाति–धर्म का नहीं होता, संन्यासी आत्मा और प्रकृति की ही भाँति, प्राणी मात्र का होता है। जो जाति–पाँति, देश–काल, अपने–पराये के भेदभाव से ऊपर न उठ सका, उसे तुम ढोंगी जानो। रावण भी जब सीता जी का अपरहण करने गया तो उसने एक ढोंगी संन्यासी का ही वेष धारण किया था। **धर्मात्मा वही है जो आत्मा को जाने, आत्मा के धर्म को पहचाने तथा मनसा–वाचा–कर्मणा आत्मावत् आचरण करे।**

पुष्प और सन्त ''
निष्काम सेवा।।मन्त्रबीज
स्वामित्व।।दुखद अन्त!
पुष्प और सन्त!

दस घर का कुत्ता, हर घर मार खाता है और भूखा भटकता है। एक घर का कुत्ता मालिक को भी नौकर बनाता है। एक आत्मा के द्वार बैठ।

सर्वहित ही स्वहित है। प्राणीमात्र की निष्काम सेवा करें।

आपत्तिजनक श्रृंगार, व्यवहार एवं विचार देह को कुरूप बनाते हैं और जीवन को अभिशप्त।

जामुन के पेड़ के नीचे पड़ी सूखी जामुन की गुठनी ने पेड़ से कहा।। "मेरे प्यारे पेड़! क्या तुम कुछ मदद नहीं करोगे?" पेड़ ने उत्तर दिया, "हाँ! क्या चाहती हो?" "तुम्हारे पास ढेरों पत्तियाँ हैं,

असंख्यों टहनियाँ है। मेरे पास तो कुछ भी नहीं! कुछ टहनियाँ और पत्तियाँ मुझको दे दो।" गुठली ने विनती की। "मैं दे दूंगा। परन्तु तुम रख न पाओगी। टहनियाँ सूख जायेंगी, पत्तियाँ मुरझा जायेंगी!" फिर मैं क्या करूँ? गुठली ने पूछा। **"सुन अपनी हस्ती को मिट्टी में मिला दे।"**

गुठली मिट्टी में मिल गई। फिर उसके पास पत्तियाँ भी थीं और टहनियाँ भी।

मिला दें स्वयं को सत्संग की मिट्टी में। हरि जल से सींचने दे स्वयं को। आचरण की पवित्र खाद लगा। वासुदेव रूपी सूर्य प्रकाशित है। अमरत्व के अंकुर फोड़, फिर तेरे पास ईश्वरीय आनन्द की पत्तियाँ हैं, तपस्या की शाखायें और मोक्ष के पत्ते हैं।

।।नारायण हरि।।

2

अधियज्ञ–मित्र

.....सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का वह सूक्ष्म अणु जिसमें ब्रह्माण्ड की सर्वशक्तियाँ निहित हैं ब्रह्म है। यह स्वयं में पूर्ण एवं अमर है।

....परम ब्रह्म का अर्थ है जो सूक्ष्म अणु से भी अति सूक्ष्म है तथा परमब्रह्मा का अर्थ है अति विशाल, जिसमें सम्पूर्ण लोक–लोकान्तर समाये हुए है।

.....सनातन के अनुसार सम्पूर्ण चराचर निर्मित है जिनसे वे सम्पूर्ण सूक्ष्म बिन्दु एक ही हैं। राख के सूक्ष्म अणु; लोहे, पत्थर के सूक्ष्म अणु मूलतः एक ही है। सृजन के रहस्य से इनके नाना रूप गुणादि प्रकट होने लगते हैं। एको ब्रह्म द्वितीयोनास्ति।

.....प्रकृति की परिक्रमाओं से बंधा सनातन एक क्षण भी प्रकृति से अलग नहीं हो सकता है। उसके ईश्वरीय आदेश उसे प्रकृति से ही प्राप्त होते हैं, जिसका वह स्वयं अंग है तथा प्रकृति सनातन के धर्म, सनातन का अनुयायी है।

'सनातन दर्शन के नौ अध्याय अथ पृष्ठभूमि' से साभार

"क्या पढ़ रहे हो?"

" **ईशावास्योपनिषद् है** " मैंने सादर निवेदन किया।

महाप्रभु मुस्कुराये! उनके नेत्र शून्यस्थ हो गये, कुछ क्षण मौन रहने के उपरान्त सहसा उन्होंने कहा "महाभारत जीत गये अर्जुन की यज्ञ–स्तुति है यह।"

मैं चौंका! इस पुस्तक का महाभारत से क्या सम्बन्ध? अर्जुन का तो इसमें कहीं नाम भी नहीं है?

अन्तर्यामी ने मनः स्थिति को जानकर स्वयं ही स्पष्ट किया।

"श्रीमद्भगवद्गीता के अट्ठारह अध्याय ही वानप्रस्थी का अट्ठारह दिन का महाभारत होता है। प्रत्येक वानप्रस्थी को यज्ञ–कुण्ड के सम्मुख यज्ञोपवीत रूपी गाण्डीव को हाथ में लेकर प्रतिज्ञाओं द्वारा सम्पूर्ण वाह्य चिन्तन मात्र को त्यागना होता था। प्रत्येक दिन वह

सारे नाते–रिश्तेदारों को, प्रतिज्ञापूर्वक यज्ञ–कुण्ड के समक्ष, यज्ञोपवीत को हाथ में लेकर मरता था अर्थात् मनसा–वाचा–कर्मणा त्याग कर सम्पूर्ण वाह्य चिन्तन–मात्र { स्वजन, दुर्जन सब कुछ } की चितायें जलाकर दस इन्द्रियों रूपी, दस फन वाले कालिया नाग को नथ; बुद्धि और आत्मा के द्वैत को, योग द्वारा अद्वैत कर ब्रह्म–कपाल से प्रकट होने का संकल्प करता था।

वानप्रस्थ में व्यक्ति **श्वेत** अथवा **पीत** वस्त्र को धारण करता था। **ये रंग समर्पण के प्रतीक हैं।** परन्तु जब सबकी चितायें जला देता था; अपनी भी चिता जलाकर, सबका पिण्डदान आदि करके अन्त में "शरीर सामिग्री को आत्मा–यज्ञ–कुण्ड की प्रलयंकर ज्वालाओं में यज्ञ करूँगा" ऐसा नाद करता हुआ, शंखध्वनि करता था। तदुपरान्त शस्त्र से शिखा काटकर यज्ञोपवीत को तोड़, श्वेत अथवा पीत वस्त्रों का परित्याग कर देता था और **ज्वाला प्रतीक गेरुआ** वस्त्र धारण करता था। इस प्रकार संन्यास में प्रवेश पाता था।

श्रीमद्भगवद्गीता के अट्ठारह अध्यायों रूपी युद्ध का प्रतीकात्मक, अट्ठारह श्लोकों का यह दिव्य उपनिषद् उसकी स्तुति बनती थी जिसे संन्यासी यज्ञ–कुण्ड के सम्मुख उच्चारण करता, धीरे–धीरे समाधिस्थ हो जाता था। इस प्रकार युद्ध जीत गये अर्जुन की यज्ञ–स्तुति अथवा आत्म–स्तुति ; जो गीता के अट्ठारह अध्यायों का प्रतीक है सो यह अट्ठारह श्लोकों की पुस्तक ईशावास्योपनिषद् है।"

धन्य हैं ये परम दिव्य योगी! आश्रम के शान्त एवं स्निग्ध वातावरण में यज्ञ–कुण्ड पर विराजमान तपस्या में मस्त हैं। कभी लगता है भोले संन्यासी हैं, एकाग्र चिन्तन कर रहे ज्ञान–विज्ञान से इनका दूर–दूर तक भी सम्बन्ध नहीं है तो कभी उनके शब्द स्तब्ध कर देते हैं। युगों के अन्तरालों को लांघती उनकी ओजस्वी वाणी आध्यात्म के गूढ़ से गूढ़ विषयों को अति विस्मयकारी ढंग से हृदयग्राही बनाती है जो कल तक अन्धकार के गर्त में छिपा था, वही आज दिव्य–दर्शन बन गया हैं। विज्ञान–ज्ञान–आध्यात्म के परम–ज्ञानी होते हुए भी उनसे पूर्णतः निर्लिप्त ! सम्मान की चाह

नहीं, किसी को कुछ बताने की उत्सुकता नहीं! अनायास ही कुछ प्रकट हो जाये अन्यथा सभा–मंच से भी सरोकार नहीं।

सहजता एवं सरलता तो उनमें इतनी है कि सतत् आग्रह के बाद अमीनाबाद लखनऊ प्रवचन स्थल पर गये तो कुछ जल्दी पहुँच गये थे। वहां पाण्डाल में बिछी दरी पर बैठने जा ही रहे थे कि भुवनेश्वरी बाबू ने देख लिया और मंच पर ले गये। जो एक बार उन्हें देख लेता है, उनका होकर रह जाता है। जहाँ जाते हैं हजारों की संख्या में जनता उमड़ पड़ती है, मन्त्रमुग्ध सी उनको सुनती है एवं क्षणमात्र के ही लिए क्यों न हो एक बार आत्मस्थ हुए बिना नहीं रह पाती। ज्ञान एवं दिव्यता का अदृष्टपूर्ण भण्डार जन–जन के मानसपटल को झंकृत करता हुआ, उन्हें आत्मबोध दिलाता है। वरवस अदृश्य डोरियों में माया की, बँधा यह दिशाहीन भटकता मानव–समुदाय दर्शन मात्र से लाभान्वित होता है। इस दिव्यता का रहस्य कुछ और ही है, जिसे शब्दों में नहीं आंका जा सकता, यह तो मात्र अनुभव का विषय है।

इतना कुछ होते हुये भी अहंता से वह कतई दूर; मस्त, निश्चिन्त एवं उन्मुक्त भाव से यज्ञ–कुण्ड के सम्मुख तपस्या में रत हैं, किसी प्रकार की उत्सुकता एवं चेष्टा उनमें प्रतीत नहीं होती है, स्वयं में सम्पूर्ण हैं वह!

महाप्रभु से करवद्ध निवेदन किया कि ईशावास्योपनिषद् की पूर्वपीठिका के उपरान्त उसमें अन्तर्निहित अट्ठारह श्लोकों पर प्रवचन देने की महती कृपा करें सहज ही मान गये और उनके श्रीमुख से निस्सरित यह प्रवचन ईशावास्योपनिषद् पर दिव्य ज्योति, ब्रह्माण्डीय अग्नि अर्थात **'आग के फूल'** नामक इस पुस्तक के रूप में उन्हीं को समर्पित है।

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।।1।।

जगत में जो कुछ जड़–चेतन संसार है, वह सब ईश्वर द्वारा आच्छादनीय है। उसके त्याग भाव से तू अपना पालन कर, किसी के धन की कामना न कर।

हे मेरे संकल्प मन! जला दी हैं चितायें सारी; जल गया है एक चिता में तू भी! दशानन से बना है दशरथ! नथ लिया है दस इन्द्रियों वाला नाग कालिया! हे संकल्प! अब दृढ रहना ! किसी के धन की अर्थात् भौतिक आकांक्षा की चाहना कदापि–कदापि न करना! सम्पूर्ण जगत जड़–चेतन, स्थावर–जंगम माधव ही है। उसे ही सदा सम्मुख रखना! उसे ही देखना! उसे ही सुनना! उससे ही बोलना! उसे ही खाना! उसे ही पहचानना! हर कदम परिक्र मा हो माधव की! जल का प्रत्येक घूंट चरणामृत जानो! हर सेवा मात्र उसी के निमित्त हो वही सम्मुख रहे सदा! माया संसार को दृढ़ता से त्यागकर, केवल श्रीहरि से ही आकांक्षा कर! उन्हीं से प्यार कर! उन्हीं के लिये सब कर्म कर!

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ ꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।2।।

इस लोक में कर्म करते हुये ही सौ वर्ष जीने की इच्छा कर! यह मनुष्य रूपी चोला धारण करने वाले! तेरे लिए इसके सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं हे जिससे तुझे कर्म का लेप न हो।

हे दृढ़बुद्धे! जब तक मनुष्य रूपी चोले को धारण किये हुये है तब तक सम्पूर्ण माया जगत से त्यक्त एवं निर्लिप्त होता हुआ तू केवल आत्म–यज्ञार्थ कर्म कर! जो कुछ भी कर श्रीहरि के निमित्त ही हो। मत सोच कि तू इसकी अथवा उसकी सेवा कर रहा है; मत जान कि कौन क्या है? जो भी कर्म कर; केवल निष्काम भाव से, फल की चाहना न रखते हुए मात्र प्रभु के लिए ही। यदि प्रवचन भी करे तो जान उन्हीं को पढ़ा रहा हूँ माधव को ही सुना रहा हूँ। सेवा करे किसी की तो जान कि माधव की ही सेवा कर रहा हूँ। भोजन बनावे तो जान कि उन्हीं के लिए बना रहा हूँ। खावे तो जान कि उन्हीं को अर्पित कर रहा हूँ। इस प्रकार सम्पूर्ण कर्मों को त्याग भावना से करते हुए शरीर रूपी मन्दिर की रक्षा एवं सेवा आत्मायज्ञार्थ करता हुआ, दीर्घकाल तक तप करने की इच्छा कर! सब कर्मों में निर्लिप्त होने से तेरा पाप और पुण्य का लोप न होगा । हर क्षण जी माधव के लिए!

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ता ँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।3।।

वे असुर सम्बन्धी लोक आत्मा के अदर्शन रूप अज्ञान से आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्मा का हनन करने वाले लोग हैं वे मरने के अन्दर उन्हें प्राप्त होते हैं।

हे निर्णायक सत्यबुद्धे! सम्पूर्ण भौतिक जगत के स्वरूप मिथ्या हैं। अज्ञान से भासते हैं। स्वप्न की नाई हैं। अतिरिक्त उस आत्मा माधव रूपी सत्य के, सब कुछ असत्य है। माता–पिता, भाई–बहन, पत्नी, सन्तान, मकान, दुकान, मित्र–शत्रु सब असत्य हैं, एक आत्मा ही सत्य है। आत्मा शरीर से अलग हुआ कि सब कुछ मिटा– स्वप्न मात्र बनकर रह गया। तब क्यों तू अज्ञान रूपी अदर्शन से 'तेरा', 'मेरा', 'मेरे' 'उसके' ऐसा जानकर आत्मद्रोही बने; आत्म सत्य के विपरीत चले और असुर अर्थात निम्न योनियों के भटकाव को प्राप्त हो। जाग रे सत्यनिष्ठ! हे तपनिष्ठ! हे आत्म–निष्ठ! सब कुछ एक आत्मा माधव के प्रति ही कर तथा उसी के निमित्त कर! अहो! एक उसकी ही सेवा ले! उसी से ही सब कुछ ग्रहण कर! उसी को देख! उसी को सुन! उसी का संग कर!

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतो ऽ न्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।4।।

वह आत्मतत्व अपने स्वरूप से न विचलित होने वाला, अद्वैत तथा मन से भी तीव्र गति वाला हैं इसे इन्द्रियां प्राप्त नहीं कर सकीं क्योंकि यह उनसे आगे है। स्थिर होने पर सब गतिशीलों से तीव्र है। उसके रहते ही वायु समस्त प्राणियों के प्रवृत्ति रूप कर्मो का विभाग करता हैं।

जान उस आत्मा माधव को! अहो! वह अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता है अर्थात् अमर है; मन से भी तीव्र है और अटल है। वह मन और इन्द्रियों का अविषय है, उनकी पहुँच से बहुत बाहर हैं वह स्थिर भी है और सब प्रकार की गतियों से तीव्र भी हैं उसके रहते ही इन्द्रियों, मन, बुद्धि और शरीर के कर्मों का अस्तित्व है। वह

अपनी सत्ता से हटा कि जग मिटा; सब कुछ एक भ्रम बनकर रह गया। तू मरकर भटकने चल दिया अन्धयोनियों में!

इसलिए हे ब्रह्ममार्गी! इस नित्य आत्मा में ही निरन्तर विचरण कर और इसी से अद्वैत करता इसी में सम्पूर्ण लीला जगत को यज्ञ करता इसी में सम्पूर्ण लीला जगत को देखता इसी सम्पूर्ण लीला जगत को भोगता इसी में सम्पूर्ण कर्म करता इससे अद्वैत करता ब्रह्मकपाल से प्रकट हो अमरत्व को धारण कर.....

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।5।।

वह आत्म तत्व चलता है और नहीं भी चलता। वह दूर है और समीप भी। वह सबके भीतर और वही सबके बाहर भी है।

सर्वत्र वही है। सर्वत्र वही है। भीतर–बाहर, पुत्र, पत्नी, माता–पिता, बन्धु–बान्धव, भृत्य–मालिक मात्र वही है! मात्र वही है!

बिजली का बल्व जला प्रकाश फैल गया। बल्व के भीतर–बाहर सर्वत्र फैलता प्रकाश! बल्ब बुझा, प्रकाश तो कहीं नहीं है। इस प्रकार हे सत्य! उसी के दिव्य प्रकाश से तू भीतर–बाहर जगमग है। उसी के तेज से देख सकीं मुर्दा आँखें। उसी के दिव्य तेज से राख के अम्बार यज्ञों द्वारा दुर्लभ मनुष्य शरीरों को धारण कर सके। उसी की कृपा से भोजन शरीर में यज्ञ होकर, रक्त–मांस–हड्डियों आदि में परिणित हो, जीवन–व्यापार चलायमान हो सका। उसे ही भज! उसे ही सुन! उसे ही देख! उसी से ही प्रतिक्षण का अद्वैत कर योग कर!

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।6।।

जो सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में भी आत्मा को ही देखता है, वह इसके कारण ही किसी से घृणा नहीं करता।

.....अहो! जान लिया जब उसे; पहचान लिया जब उसे; घट–घट वासी है वह; सम्पूर्ण भूतप्राणियों के हृदय में वास करता है वह

वही माता–पिता, सम्पूर्ण जगत है तथा उसी में सम्पूर्ण जगत समाया हुआ है तो वह कैसे किसी से घृणा करेगा? क्या माधव से अपने; राग, द्वेष, घृणा, ईष्या आदि का सम्बन्ध स्थापित करेगा? देख रे सत्यनिष्ठ! देख भीतर अपने! सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समाये हैं तेरे भीतर! असंख्यों पृथ्वियां, असंख्यों सूर्य, असंख्यों प्रकार के जीवधारी पशु–पक्षी, मनुष्य, पेड़–पौधे सभी सम्पूर्ण रूप से तेरे भीतर समाये हैं। पहचान स्वयं को रे माधव! स्वयं में कितना विराट है तू! तब नथ ले नाग कालिया! चल दे भीतर!! देख भीतर के तत्सवितुं

आत्मा माधव को!

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।7।।

जिस समय ज्ञानी पुरुष के लिए सब भूत आत्मा ही हो गये, उस समय देखने वाले उस विद्वान को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है?

.....चित्रकार ने कैमरे से फोटो लिया उसे जितना छोटा करेगा अथवा बड़ा करेगा, चित्र तो वही रहेगा। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सूक्ष्म चित्र तू है रे मानव! समाये हैं तेरे में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, ग्रह, नक्षत्र, सूर्यादिक! समाये हैं। तेरे में सम्पूर्ण अतीत, वर्तमान एवं भविष्य! कब तू नहीं था अथवा कब तू नहीं रहेगा? झांककर देख भीतर अपने! पहचान स्वयं को! रे वंचक बने सृष्टा!!

जब जान लिया स्वयं को! पहचान लिया स्वयं को! हो गया अद्वैत आत्मा से तो शोक कैसा? मोह कैसा? किसने मारा? कौन मारा? कौन जीता? कौन हारा? कौन लुटा? किसने लूटा?

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण मस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समायभ्यः।।8।।

वह आत्मा सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायुरहित निर्मल, अपापहंत, सर्वदृष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट और स्वयम्भू है। उसी ने नित्यसिद्ध संवत्सर नामक प्रजापतियों के लिए यथायोग्य रीति से अर्थों का विभाग किया है।

.....जो सनातन है सो आत्मा है। जो सनातन धर्म है सो आत्मा का धर्म है। प्रकृति और पुरुष की लीलायें दिखती हैं सर्वत्र रामचन्द्र की लीला, कृष्णचन्द्र की लीला प्रत्येक शास्त्र, पुराण, उपनिषद् जिसने इनको न जाना; जिस को न पाया, उसे फल क्या? जिसने लक्ष्य को जाना ही नहीं वह पहुँचा कहाँ?

अहो! घट–घटवासी श्रीराम और श्रीकृष्ण कैसे हैं? वे तो आत्मप्रतीक परमात्मतत्व हैं। महाप्रभु सर्वगत हैं अर्थात् सब ओर गये हुए सर्वत्र हैं। वे शुद्ध, अशरीरी और अक्षत अर्थात् अमर हैं। वह तो तेजोऽसि हैं। तेज स्वरूप प्राणज्योति हैं। शरीर तथा स्नायु आदि की सीमाओं से सीमित नहीं हैं, असीम हैं वे! उनसे अधिक उत्कृष्ट नहीं है कुछ! महाप्रभु आत्मा माधव सर्वोत्कृष्ट हैं। निर्मल हैं वे! अविद्या रूपी मल से रहित अपापहत हैं अर्थात् पाप और पुण्य से परे हैं। वे सम्पूर्ण जगती के आदि कारण, सम्पूर्ण कर्मों के मध्य में वास करते हैं तो भी निर्लिप्त हैं। वे स्वयम्भू हैं अर्थात अपने माता–पिता, सृष्टा–सृजक वे स्वयं हैं। वे ही प्रणयलीलाओं द्वारा भस्मियों को सुन्दर वनस्पतियों तथा नाना जीवधारियों के रूप में उत्पन्न करते हैं, वे सर्वशक्तिमान एवं सर्वत्र विद्यमान हैं? उन्होंने ही सम्पूर्ण जगत की सृष्टि लीला द्वारा की हैं ऐसे माधव कन्हाई को अपने भीतर भज रे मन! एक नित्य सत्य का चिन्तन कर रे मन! उन्हीं को देख! उन्हीं को सुन! उन्हीं के संग हँस, बोल, खेल रे मन! "मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई...।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया ँरताः।।9।।
अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।।10।।
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय ँसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।11।।

जो अविद्या की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या में ही रत हैं वे मानो उससे भी अन्धकार में प्रवेश करते है।

विद्या से और ही फल बतलाया गया है तथा अविद्या से और ही फल बतलाया गया है। ऐसा हमने बुद्धिमान पुरुषों से सुना है जिन्होंने हमारे प्रति उसकी व्याख्या की थी।

जो विद्या और अविद्या इन दोनों को ही एक साथ जानता है वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमरत्व प्राप्त कर लेता है।

अहो! विद्या और अविद्या में फंसे हैं मन। कर्म और उपासना, इन्द्रियोचित धर्म और आत्म धर्म, इन्द्रियोचित ज्ञान और आत्मज्ञान फंस गये मन! कौन श्रेष्ठ? कौन प्रधान? कौन सत्यमार्गी? कौन पलायनवादी? किसने पाया उसे और कौन डूब गया भटकाव के अन्धकार में? विद्वानों के मतमतान्तर, नाना फल, नाना विरोध? रे सत्य! बता तू क्या है? अविद्या वालों को भटकाता पाया अन्धकार में! विद्यावान उससे भी गहन अन्धकार में भटकते देखे! रे सत्य! बता तू कहाँ हैं? किस मार्ग से चलूँ कि मिलूं कन्हाई को?

जो इन्द्रियों द्वारा लिए गये आत्मज्ञान का दृढ़तापूर्वक मनसा–वाचा–कर्मणा अनुसरण कर गया 'तत्त्वमसि' धारणा पुष्ट हुई जिसकी; 'तेजोऽसि' ध्यान जागृत हो अटल हो गया जिसका; 'एकोब्रह्म द्वितीयनास्ति' एकाग्रभाव, एकाग्र लगन, एकाग्र दृष्टि, चिन्तन, श्रवण समाधि हो गई जिसकी; 'अहं ब्रह्मास्मि' अधियज्ञ शुरू हो गया जिसका; शरीर बन गया गर्भ आत्मा बन यज्ञ–फलरूपी हिरण्यजल को धारणा के सांचे में ढालता जो इस शरीर रूपी गर्भ में उत्पन्न होने लगा स्वयं और 'सोऽहं' का नाद करता, ब्रह्मकपाल को फाड़ मृत्यु की सीमाओं को तोड़ भागा; वही अविद्या से मृत्यु को पार कर गया तथा विद्या को धारण करता स्वयं सृष्टा हो गया।

विधा और अविधा में फंसा पोथा शास्त्री कहाँ गया? कहां गया?

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्या ँरताः।।12।।
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षरे।।13।।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभय ँसह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते।।14।।

जो असम्भूति की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो सम्भूति में रत हैं वे मानो उनसे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

सम्भूति से और फल बताया गया है और असम्भूति से और ही फल बतलाया गया हैं। ऐसा हमने बुद्धि मानों से सुना है जिन्होंने हमारे प्रति उसकी व्याख्या की थी।

जो सम्भूति और असम्भूति इन दोनों को साथ साथ जानता है, वह सम्भूति की उपासना से मृत्यु को पार करके असम्भूति द्वारा अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।

....फंस गया है, झगड़ा साकार और निराकार का, सगुण और निगुर्ण का, व्यक्त और अव्यक्त का, इतिहास और आध्यात्म का। नाना तर्क, नाना प्रमाण, विद्वता का पाखण्ड अथवा बुद्धि–विलास? बुद्धिमानों के झुण्ड ढूंढते सुई बिजली के खम्भों के नीचे! मंच की चमक–दमक! वाह–वाह! कमाल और बेमिसाल! बुद्धियों के द्वन्द्वों के साथ लिपटते–भटकते मानव–समूह! रे सत्य बता तू कहाँ है? मुझे मेरा माधव मिला दे।

जो व्यक्त, साकार से धारणा का सबल सांचा बना, ध्यान से उसमें मुझको रमा समाधिस्थ हो सम्पूर्ण को मुझमें ही यज्ञ कर मुझसे ही अद्वैत हो गया वही साकार सगुण से मृत्यु की सीमाओं को तोड़, 'सोऽहं' का उद्घोष करता ब्रह्मकपाल से प्रकट हो; मुझ अव्यक्त सर्वव्यापी में लय हो सर्वत्र हो गया। खिलौने से खिलाड़ी हो गया

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।15।।

आदित्यमण्डलस्थ सत्य {आत्मा} का मुख ज्योतिर्मय पात्र ढका हुआ है। हे पूषण! मुझ सत्यधर्मा को आत्मा की उपलब्धि कराने के लिए तू उसे उखाड़ दे।

हे पूषण! विद्या और अविद्या, सम्भूति और असम्भूति से निकलकर

तेरे बताये हुये मार्ग पर पांचों महावाक्यों के सत्य को धारण करता, सम्पूर्ण वाह्य जगत के भ्रम को नष्ट कर, दसों इन्द्रियों को नथ चल दिया हूँ भीतर सत्य का साक्षात्कार करा दे! मुझको माधव से मिला दे! सम्मुख खड़ा हो गया हूँ सत्य के । देख रहा हूँ ' **तत्सवितुः** ' तीव्र ज्योतिर्मय प्रकाशवान आत्मा को! सहस्त्रों सूर्यों के तीव्र प्रकाश में निगाहें टिक नहीं पा रही हैं। तीव्र प्रकाश की चकाचौंध में कुछ दिखता नहीं हैं हे पूषण! मुझ सत्यधर्मा को आत्मा के दर्शन हेतु इस ज्योतिर्मय प्रकाश–कवच को एक क्षण के लिए हटा दे जिससे देख तो लूँ मुख उस सत्य रूपी आत्मा माधव का।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह
तेजोयत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽ सावसौ
पुरुषः सोऽहमस्मि।।16।।

हे जगत्पोषक सूर्य! हे एकाकी गमन करने वाले! हे यम! हे सूर्य! हे प्रजापितनन्दन! तू अपनी किरणें को हटा ले! तेरा जो अतिशय कल्याणमय रूप है, उसे मैं देखता हूँ। यह जो आदित्य मण्डलस्थ पुरुष है वह मैं हूँ।

हे प्राणधार आत्मन्! शरीर लोक को प्रकाशमान करने वाले सूर्य! हे माधव ! दिव्य मार्ग पर चलाने वाले हे यम! मुझ जड़ में प्राणों का संचार करने वाले! मुझे यज्ञों द्वार स्वरूप देकर मेरा पोषण करने वाले हे आत्मा सूर्य! मेरा भरण–पोषण करने वाले हे प्रजापति आत्मा सूर्य! तू एक क्षण को अपना तेज समेट ले जिससे मैं तेरा अतिशय कल्याणमय सत्य स्वरूप देख सकूँ।

अहो! देखो खड़ा हूँ सामने उसके! अहो! देख रहा हूँ मैं उसको! कैसी लीला है! कैसा रहस्य है! खड़ा हूँ सामने अपने! देख रहा हूँ स्वयं को! अरे ! यह जो आदित्य मण्डलस्थ पुरुष है वह तो मैं हूँ! अपना ही प्रतिबिम्ब देख रहा हूँ सत्य का सम्मुख है।

वायुरनिलममृतमथेदं भसमान्त ँ शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृत ँ स्मरक्रतोस्मरकृत ँ स्मर।।17।।

अब मेरा प्राण सर्वात्मक वायुरूप सूत्रात्मा को प्राप्त हो और यह शरीर भस्म शेष हो जाय। हे मेरे संकल्प मन! अब तू स्मरण कर!

अपने किए हुए को स्मरण कर!

.....हे अधियज्ञ! मुझे स्वयं में समेट ले। हे शरीर ! हे प्रकृति!! मिलन की अनुपम घड़ी है। हे शरीर! सामिग्रीवत् हो और आत्मारूपी अधियज्ञ–कुण्ड में यज्ञ हो–होकर भष्मशेष होता चल! यज्ञ की घड़ी है! मिलन की बेला है! रोम–रोम पुलकायमान है। मेरे ही शरीर में, मैं यज्ञ हो रहा हूँ। मैं यज्ञ कर रहा हूँ मुझको, मुझमें! हे मेरे संकल्प मन! दृढ़तापूर्वक धारणा रूपी सांचे को स्मरण द्वारा पुष्ट कर और ढलने दे मुझको मेरे इष्ट के ढांचे में! अहा! मैं यज्ञ हो रहा हूँ अपने ही शरीर में मैं उत्पन्न हो रहा हूँ!

प्रसव की पीड़ा है यह;प्रसव का आनन्द है;
मेरे ही शरीर में जन्म ले रहा हूँ मैं! अहं ब्रह्मास्मि!

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।।18।।

हे अग्ने ! हमें कर्म–फल–भोग के लिए सन्मार्ग से ले चल। हे देव! तू समस्त ज्ञान और कर्मो को जानने वाला है। हमारे पाखण्डपूर्ण पापों को नष्ट कर। हम तेरे निमित्त अनेकों नमस्कार करते हैं।

हे माधव! सहस्त्रों सूर्यों को तेज देने वाले आत्मकुण्ड हे अधियज्ञ!! मुझ सत्यधर्मा को समेट ले! मुझे यज्ञ कर! मुझे मेरे अद्वैत स्वरूप में ढाल ले! मुझे ब्रह्मकपाल रूपी सन्मार्ग से ले चल! अद्वैत स्वरूप को धारण करता मैं सर्वत्र में लय हो जाऊँ। हे माधव! मैं स्तुति कर रहा हूँ तेरी! तू कौन? अरे मैं ही तो हूँ! अपनी स्तुति कर रहा हूँ स्वयं! ढल रे सखा! ढल रे अधियज्ञ! स्वप्न में स्वयं से स्वयं को पुकार रहा है। जाग गया है! हो गया है ब्रह्मकपाल से बाहर ज्योतिर्मय स्वरूप! स्वप्न से हुई जागृति! खिलौना खिलाड़ी हो गया! मैं ही तो हूँ! मैं ही तो हूँ!"

और जगमग मस्त योगी झूमता चला जा रहा है। कौन सा मंच बांध सकेगा इन्हें? किस समाज अथवा युग में शक्ति है इन्हें बांधने की। ज्ञान का चरम तो मूढ़ अज्ञानी सा लगता है? विचित्र लीला है। अतीत, वर्तमान तथा भविष्य जहाँ कल्पना जाती है– प्रत्येक

कल्पना का मध्य प्रतीत होता है। वे स्वयं में प्रज्ज्वलित सूर्य हैं। समाजवालों! उनहें सावधानी से मिलो, क्षण मात्र में विलीन हो जावेंगे यदि क्षुब्ध हो गये। उनकी मस्ती, उनकी उन्मुक्तता, उनकी निश्चिन्तता अक्षुण्ण है बेमिशाल है। उन्हें चिन्ता नहीं किसी के आने की ध्यान नहीं किसी के जाने का। वह तो मूढ़ भक्त हैं कन्हाई के सर्वत्र उन्हें वही भासता है जगमग ज्योति भीतर–बाहर सर्वत्र!

गूढ़ से गूढ़ विषय को इतने सरल और व्यावहारिक ढंग से समझाते हैं वह कि शब्द सीधे उतरते चले जाते हैं। कुछ सोचने अथवा समझने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। एक गुरू जी महाराज ने उनकी अनुपस्थिति में कहा, "जन्मना जायते शूद्रा, संस्कारात् द्विज उच्चते? यह तो बिलकुल गलत है। मैं कहता हूँ, "जन्मना जायते विप्रा, संस्कारात् द्विज उच्यते!....."

स्वामी जी ने सुना तो मुस्कुराये। बहुत ही सहज ढंग से उनका जो उपदेश हुआ उन्हीं के शब्दों में.....

".....हमारा धर्म सनातन धर्म है। प्रकृति और पुरुष की लीलात्मक नित्य सत्य धर्म ! इसकी किसी भी मान्यता को अपनी इच्छा से कोई भी गुरू नहीं बदल सकता। यही कारण है कि जिसने भ्रान्तियों से प्रेरित होकर पाखण्ड को धर्म के नाम पर पुजाना चाहा, असफल हुआ अथवा अलग नया धर्म चलाना पड़ा। सनातन की प्रत्येक मान्यता हर घर में छपी हुई, प्रत्येक सनातन धर्मी के मस्तक पर अंकित है।

प्रत्येक व्यक्ति के घर में, चाहे ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो अथवा वैश्य हो, जब भी बालक उत्पन्न होता है 12 दिन छूत वास करती है जिसे सूतक कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि 'जन्मना जायते शूद्रा.....

बालक जब उत्पन्न होता है तो शूद्र स्त्री ही नाल काटती है; वही बालक को साफ करती है तथा प्रथम बार रुई के फाहे से दूध पिलाती है। इस प्रकार पहली माँ { धाय माँ } बालक के जन्मते ही शूद्र स्त्री { चमारिन } बनती है। इससे भी स्पष्ट है कि, "जन्मना

जायते शूद्रा..."

जब तक बालक का यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होता तब तक उसे ठाकुर नहलाने की, यज्ञ में बैठने की तथा वेद–पाठ करने की अनुमति नहीं होती है। उसे कपड़े पहन कर कच्चा भोजन खाने की अनुमति रहती है जबकि यज्ञोपवीतधारी ब्रह्माण को ऐसा करने की अनुमति नहीं हैं इससे भी स्पष्ट है कि "जन्मना जायते शूद्रा, संस्कारात् द्विज उच्चते!" यह वाक्य प्रत्येक व्यक्ति के चेहरे पर लिखा हुआ हैं गुरुजी के भी मस्तक पर लिखा है क्योंकि गुरूजी सिंहासन, छत्र, चंवर, दंड–कमण्डल सहित उत्त्पन्न नहीं हुए न ही उन्हें जन्मते ही ब्राह्मणत्व का सम्मान देने शिष्य समुदाय पहुंच गया। ऐसा भी नहीं कि जन्मते ही बारह दिन का सूतक न मनाया गया हो। उनहें अपने पद की गरिमा का ध्यान रखते हुए ऐसा नहीं कहना चाहिये था। ऐसा करके वे सम्पूर्ण सनातन जगत की मान्यताओं को अपमानित करते हैं तथा प्रत्येक हिन्दू मात्र के पूर्वजों को मूर्ख तथा निकृष्ट होना सिद्ध करते हैं। उन्हें अपनी उक्ति पर पुनर्विचार करना चाहिये।

बालक जन्मते ही शूद्र क्यों है? इसलिये कि अज्ञान ही शूद्रता है। जब बालक संसार से पवित्र हो ज्ञानार्जन हेतु गुरुकुल में प्रवेश करता है तब वह प्रथम द्विज अर्थात् वैश्य है। क्यों? इसलिये कि ज्ञान का अर्जन ही तो उसके जीवन का व्यापार का मूलधन है। इसी ज्ञान से उसका जीवन व्यापर, सफलता, सिद्धि धर्म, कर्म, मोक्ष, आदि सिद्ध होता है। इसलिये ज्ञानार्जन ही वैश्य वृत्ति है।

जब बालक युवावस्था को प्राप्त होता, विवाह के समय 'क्षत्र' को धारण करता है तब वह क्षत्रिय है। क्यों? इसलिये कि सम्पूर्ण मायाओं से यज्ञोपवीत के गाण्डव पर युद्ध करते हुये उसे आत्मयज्ञार्थ कर्म करना हैं माया महासमर का सत्य रूप योद्धा है सो क्षत्रिय है।

जब भौतिकता से विरक्त हो, वैराग्य और त्याग की भावनाओं को जागृत कर ब्रह्म के मार्ग का अनुसरण करने चल देता है तब ही वह ब्राह्मण है।

ब्रह्म के ज्ञान को प्राप्त हो, उसी ज्ञान से प्रेरित हुआ सम्पूर्ण भौतिक जगत माता–पिता, बन्धु, मित्र–शत्रु, पत्नी, पुत्र, सम्पूर्ण भौतिक उपलब्धियों को मनसा–वाचा–कर्मणा त्यागता सबकी तथा साथ में अपनी चिता जला यज्ञोपवीत के गाण्डव एवं शिखा का परित्याग कर शरीर सामग्री को आत्म–कुण्ड में यज्ञ कर, ब्रह्मकपाल से प्रकट होने की तथा सर्वत्र ब्रह्म तथा अद्वैत समभाव देखने की प्रतिज्ञा कर ज्वाला का प्रतीक गेरुआ वस्त्र धारण कर लेता है, तब वह संन्यासीहै। जो किसी को वर्ण से अथवा भेदभाव से जानता है, वह कैसे स्वयं को सत्य रूप संन्यासीकह सकता है?

जो ब्राह्मण संन्यास न लेकर घर में ही शरीर त्याग करता है वह पुनः शूद्र है। क्यों?

इसलिये कि वह स्वयं को ब्रह्मकपाल से प्रकट नहीं कर सका ब्रह्कपाल के इम्तहान में फेल हो गया। उसकी स्थिति उसी बालक के समान है जो तिमाही, छमाही में तो पास हो गया पर सालाना इम्तहान में फेल हो जाता है। इसलिये जिस घर में वह ब्राह्मण मरेगा वहां 13 दिन छूत वास करेगी। एक दिन अधिक क्यों? इसलिये कि इस एक जन्म का शूद्रत्व और अधिक बढ़ गया। इस परम्परा से स्वयं सिद्ध है कि ब्रह्मणत्व के इम्तहान में वही पास होगा तथा ब्राह्मण माना जावेगा जो शरीर सामग्री को आत्म–कुण्ड में {न कि चिता–कुण्ड} यज्ञ कर ब्रह्मकपाल से प्रकट होगा। यह मान्यता सम्पूर्ण द्विज जातियों {ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य } में सर्वत्र मानी जाती है तथा आदि काल से ज्यों की त्यों चली आ रही है। क्या गुरु जी अब नये आदेश जारी करेंगे?

मित्रों याद रखो अज्ञान ही शूद्रता है; ज्ञानार्जन ही वैश्यवृत्ति है; आत्म–यज्ञार्थ कर्म ही क्षत्रिय है; वैराग्य और त्याग ही ब्रह्मार्पण होना ही ब्राह्मण है तथा सर्वत्र चेतन आत्मा को समभाव से देखते हुए; सर्वत्र उसे समान रूप से जानते हुए, उसमें एकीभाव से स्थित होना ही संन्यासहै।

मैं आपको याद दिलाना चाहूंगा कि इसी सदी के आरम्भ काल तक

यह मान्यता स्पष्ट रही है जबकि वृद्ध व्यक्ति तीर्थ करने जाता था वह लौटकर नहीं आता था। वहीं तीर्थ स्थान पर शरीर त्याग देता था। यदि आप वृद्ध समुदाय से पूछेंगे तो वे आपको बतावेंगे कि ऐसा होता था क्यों?

इसलिये कि यदि जीवित अपने घर जायेगा तो लोग उसे पापी कहेंगे। घर में मरकर तो एक जन्म का अधिक शूद्र बनेगा। लोग उसकी तथा परिवार की हंसी करेंगे। इसलिये वह व्यक्ति घर न लौटकर संन्यासीहो जाता था अथवा ईश्वराधना में ही शरीर त्याग देता था।

यहां एक बात और भी स्पष्ट कर देना चाहूंगा कि जो शूद्र माता बालक को प्रथम बार दूध पिलाती है वही जच्चा { बालक को जन्म देने वाली माता } को भी भोजन खिलाती है। इस प्रकार शिशु एवं माता दोनों ही शूद्र द्वारा दिया गया भोजन ग्रहण करते हैं तथा आप सब द्विजगण उन माताओं के हाथ का भोजन ग्रहण करते हो जो प्रत्येक सन्तान के जनमने पर शूद्र द्वारा दिया भोजन, धार्मिक मान्यताओंके कारण ग्रहण करती हैं। अब आप स्वयं निर्णय करें कि सत्य क्या है।

ऐसा क्यों करते हैं? इसलिये कि माँ शबरी जब तक अबोध शिशु रूपी राम को अपने हाथ से नहीं खिलावेंगी अभय होगा कैसे? पाखण्ड, ढोंग, भ्रम, दम्भ, असत्यरूपी रावण मारा जावेगा कैसे? जब तक शबरी अपने हाथ से बालक की माँ को भोजन नहीं खिलावेंगी उसके दूध में जूठे बेरों का अमृतमय रस आवेगा कैसे? फेंक दिया बेर पीछे जिस लक्ष्मण ने, वह मेघनाद से शक्ति खावेगा ही; और सुमेरू पर्वत पर उगे उस जूठे बेर की संजीवनी ही उसे प्राणदान दे सकेगी।

स्वांगी ब्राह्मण बन, अन्त में एक जन्म की छूत और बढ़ा तेरहवीं मनाने वाला तो रावणगति को जाता है। क्या रावण ब्राह्मण नहीं था? ब्राह्मण तो था परन्तु संस्कारों ने उसे शूद्र बना दिया था। शायद इसीलिये गुरु जी महाराज के अन्तर से यह दिव्य नाद उठा जन्मना जायते विप्रा, संस्कारात् { द्विज} शूद्र उच्यते क्योंकि 12 दिन का शूद्रत्व उच्च होकर 13 दिन की तेरहवीं बन गया।

सत्य रूप ब्राह्मण बन रे सखा! ब्रह्म के मार्ग का आचरण कर रे मित्र! जाना जो ब्रह्म कपाल से, तेरहवीं मने नहीं एक जन्म की शूद्रता अधिक ओढ़े नहीं वरन् सत्य रूप ब्राह्मण हो जावे ब्रह्मकपाल से प्रकट होकर! याद रखो हमारा धर्म आत्मा और प्रकृति का सत्य धर्म है! किसी एक गुरुजी की मानसिक भ्रान्ति के कारण किसी भी मान्यता को ठुकराया नहीं जा सकता। जब तक प्रकृति और पुरुष उस मान्यता को सम्पूर्ण दृश्य मात्र में नहीं बदलेंगे, उसे बदलने का अधिकार हमें नहीं है। नाना वर्णो की चितायें जलाकर क्या तुम ब्राह्मण की, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की भस्मी में अलगाव सिद्ध कर सकते हो? **कौन सी गोभी ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा शूद्र है? कौन सा पेड़ हिन्दू है अथवा ईसाई है? इन्हीं से बने सबके शरीर कैसे अलग–अलग वर्ण के हो गये? स्पष्ट है कि यह सुन्दर तथा अति आवश्यक वर्ण व्यवस्था गुण तथा कर्म के विभाग से है। यह व्यवस्था समाज को सुन्दर, सुव्यवस्थित, तथा अमृतमय बनाने के लिये है न कि वर्ण का ऊंच–नीच दिखाकर घृणा तथा भटकाव उत्पन्न करने के लिये।** वर्णो के बीच उत्पन्न हो गये वैमनस्य रूपी विष को मिटाकर सौहार्द्र, प्रेम और सामन्जस्य उत्पन्न करो। घृणा को बढ़ावा देने वाले तो इन व्यवस्थाओं के केंद्र ही हैं और इन व्यवस्थाओं को समूल नष्ट करने वाले हैं।

इन सबसे स्पष्ट है कि 'जन्मना जायते शूद्राः संस्कारात् द्विज उच्यते।' अब प्रश्न उठता है कि इस वाक्य का पुस्तकों में भी कहीं स्थान है? प्रत्येक संस्कार की पुस्तक अथवा संस्कृत शब्दकोष में यह वाक्य ज्यों का त्यों तथा किसी न किसी रूप में अवश्य रहता है। इसे सर्वत्र देखा जा सकता हैं प्रत्येक घर में, प्रत्येक व्यक्ति के मस्तक पर..."

स्वामी जी के प्रत्येक शब्द जीवन्त हैं। सत्य की झलक शब्द–शब्द में है। वे पुस्तकों के विद्वान नहीं, युगान्तरदृष्टा हैं। उनकी दृष्टि सहज ही युगों के अन्तरालों को लांघ सत्य का साक्षात्कार कर लेती है।

8 नवम्बर 1976 के दिन पूज्य स्वामी जी द्वारा विरचित

श्रीमद्भगवद्गीता दिव्यदर्शन के द्वितीय अध्याय का विमोचन समारोह सनातन आश्रम में हुआ। इस असवर पर बोलते हुए श्रम एवं विद्युत मंत्री माननीया डा. राजेन्द्र कुमारी जी बाजपेयी ने पूज्य स्वामी जी को साक्षात वेदमूर्ति एवं युगदृष्टा बताते हुए कामना की कि इन्हीं के चरणों में बैठकर नैतिकता एवं समाजोन्नयन के दुरूह कार्य को सच्चा एवं दृढ़ मार्ग दर्शन मिल सकता है। उन्होंने समाज कोपूज्य स्वामी जी के उदात्त विचारों से अवगत होकर, उनके अनुसरण की आवश्यकता पर बल दिया।

।।नारायण हरि।।

3

मर्यादा–कथा
कुश कथा रहस्य

सप्त द्वीप पति असुरराज दशानन रावण के शव को लेकर मन्दोदरी बिलखती हुई चली गई है। प्रलय के तांडव को गिद्ध और कौवे, लाशों को नोचते, भयानकतम रंग दे रहे हैं। युद्ध समाप्त हो चुका है। जो हारे! सो हारे! जो जीते, क्या वे सचमुच जीत गये?

सीता जी को लिवाने लक्ष्मण और विभीषण जी बहुत समय पूर्व जा चुके है। अब लौटते ही होंगे। राघवेन्द्र एक अन्तर्युद्ध में दहलाये हुये हैं। यह युद्ध कहीं रावण से भी भयंकर है। आज प्रश्न एक सीता का नहीं। पति के लिए पत्नी की समस्या की चर्चा नहीं है। वरन् उससे जुड़ा है समाजिक, धार्मिक, वंशानुगत मर्यादा का विकराल प्रश्न?

श्री राम जी जानकी को स्वीकारें अथवा दूषित कहकर परित्याग कर दें?

श्री राम को अपने और जानकी के हित में ही नहीं! मर्यादा, समाज, धर्म संस्कृति और नारी के हित में भी सूक्ष्म निर्णय लेना होगा! जिस प्राण बल्लभा के लिए हर क्षण तड़पे, सिसके! भयंकर युद्ध लड़े! आघात सहे! क्या उसे स्वीकार कर पावेंगे? आह!! मैं उस मनः स्थिति का वर्णन कैसे करूँ।

एक असुर द्वारा जबरन उठाई हुई अबला के प्रति समाज का, पति का, धर्म और संस्कृति का, तथा पूर्ण मानवता का क्या व्यवहार होना चाहिए? बात सिर्फ दो तक ही सीमित नहीं है, वरन् सम्पूर्ण मानवता की अग्नि परीक्षा के क्षण हैं। राघवेन्द्र! सोचो? क्या निर्णय है तुम्हारा?

क्या उसे दूषित कहकर त्यक्त कर दोगे? अथवा उसको अंगीकार कर समाज का सामना करने का साहस है तुममें?

आज अग्नि परीक्षा है तुमहारी! लोक निन्दा, अपयश, व्यंग–कटाक्ष और समाज का उपेक्षित व्यवहार का भय है एक ओर! तो दूसरी ओर सत्य, न्याय, यज्ञ की वेदी के सम्मुख संकल्पों की प्रतिष्ठा! सब कुछ! दांव पर लगी है! राघवेन्द्र! क्या निर्णय है तुम्हारा? ओह! क्या हो? क्या हो??

बाहर से शान्त स्थिर गम्भीर! भीतर भयंकर विचार–युद्ध का प्रलय! राघवेन्द्र! हे महान रघु के वंशज! हे श्रेष्ठ वंशी!! क्षण फिसल रहे हैं निर्णय के समीप हो! बोलो! तुम्हारी जानकी तुमसे मिलेगी अथवा अन्तिम रूप से त्यक्त होगी? बोलो! क्या करोगे?

ठहरो!! प्रश्न मात्र जानकी का नहीं! परम्परा का है! यदि आज जानकी त्यक्त होगी तो कल कितनी ही निरीह अबलाओं को आत्म–दाह करना होगा? क्या यह मानवीय होगा? क्या यह धर्म का न्याय होगा?

राघवेन्द्र को लग रहा है जैसे उनके सारे शरीर से अग्नि ज्वालायें प्रस्फुटित हो रही हैं! रोम–रोम ज्वालामय हो उठा है। अग्नि परीक्षा के क्षण है। मर्यादा पुरुषोतम अग्नि परीक्षा में जल रहे है! **।। नारायण हरि।।**

4

जानकी मिलन

अशोक वाटिका शोक संतप्त है। आज असुरराज अन्तिम पराजय को प्राप्त होकर मृत्यु निन्द्रा की गोद में सदा के लिए सो गये हैं। करुण क्रन्दन! भय, आतंक, अनिश्चितता और सती होने की तैयारियों में उलझी रानियाँ! एक पिघलता सा, उबलता सा दिन! हर क्षण पहेली सा उलझता, हर साँस विचित्र अनजानी सी? टूटे तार! फूटे साज! छितराये नूपुर!! कोई किसी को पहचान नहीं रहा है।

लक्ष्मणजी ने जानकी के चरणों में सिर रख दिया है। अश्रु जल से उस परम तेजस्विनी, कृश–काय के चरण धोने लगे हैं। लिवाने का आह्वान है उनमें।जानकी स्तब्ध है! मौन! शिला सी! जिस क्षण की कल्पना में हर क्षण तपीं! आज वे क्षण ही असह्य रूप से भारी हो उठे हैं! आह! जिस ही सुखद मिलन की कल्पना उसे जिलाये रही! जिस आस में सांस रुकी नहीं, दिल धड़कता रहा! वे सुखद क्षण इतने पीड़ायुक्त हो उठे हैं।

जानकी!! तू उस महामानव का सामना कैसे करेगी? क्या समाज उसे तुम्हारे साथ जाने देगा? समाज, उस पर कलंक और कीचड़ उछालेगा! तेरा नाम लेकर उसे अपमानित करेगा! क्या तुझे यह सब सहन होगा? अपमान की पीड़ा से जब उसका मुख मण्डल बोझिल होगा! क्या तू देख पावेगी? महान रघु के वंशज क्या तेरे कारण लोक निन्दा को प्राप्त होंगे? जानकी! जानकी!! जानकी स्थिर है! जिस क्षण के लिए, हर क्षण जीवित रहने की कामना बनी रही, वही क्षण अब जिन्दगी को झुठला देना चाहते है! सागर के किनारे नाव डूबना चाहती है! अग्नि–परीक्षा के मार्मिक क्षण है!

अन्तर्मन दहक रहा है "हा! देव!! कितनी अभागिन हूँ मैं! हे माँ दुर्गा!! हे प्रलय की ज्वाला! मुझे शक्ति दो! प्राणेश के श्री चरणों का स्पर्श लेकर मैं अग्नियों में स्वयं को समर्पित कर सकूँ! माँ शक्ति दो! मैं अपना बलिदान देकर महान रघुवंश को लोक निन्दा से बचा सकूं। मां!! असुर राज ने मेरे जीने के सारे अधिकार नष्ट कर दिये है। अपने प्रभु के अन्तिम दर्शन का

साहस दो मुझको।

डोली चल दी है। त्रिजटा आदि बहुत–बहुत कुछ कहती रहती है। जानकी को धुंधली–धुंधली सी स्मृति है। उसे तो बस इतना ही लगता रहा है कि उसका सारा शरीर दहकते अंगारों पर रखा हुआ है और सूखे उपलों सा उसका रोम–रोम जल रहा है। नेत्रों में अनायास प्राणेश के कितने–कितने रूप, भाव–भंगिमाये; अनियन्त्रित स्मृतियाँ! बस यही सब कुछ तो! एक ही राह! मात्र अन्तिम इच्छा। प्राणेश तुम में विचार स्थिर हो। तुम्हे देखती रहूँ टकटकी लगाकर और तन ज्वालाओं में शेष हो जाये।

।।नारायण हरि।।।

5

अग्नि–परीक्षा

"जानकी। बाहर आओ।"

चौंक उठी जानकी। ओह। राघवेन्द्र के शब्द। पर्दा उठाये राघवेन्द्र खड़े थे। जानकी उन्हें न जाने कितनी देर टकटकी बाँधकर देखती रह गई।

"जानकी तुमने कितना कष्ट सहा। अब दुःख के दिन समाप्त हो चुके हैं। उठो हम शीघ्र अयोध्या जा रहे हैं।

"राघवेन्द्र।" बस जानकी इतना ही तो कह पाई। नेत्र बरस उठे। उठी, बाहर आने को तो लड़खड़ा गई। राघवेन्द्र ने सहारा देना चाहा तो सर्वांग कांपकर रह गई राघवेन्द्र चौके।

"जानकी? क्या तुमने हम दोनों को क्षमा नहीं किया?"

"नाथ!!!" जानकी पुनः फफक कर रो उठी। "इस पापिन का स्पर्श न करें। जिसे बांह से पकड़कर नीच असुर ने घसीटा हैं नारायण! वह आपके स्पर्श के योग्य नहीं है।

"जानकी! तुम्हारे स्पर्श से असुर के पाप ही नष्ट हो सकते हैं। तुम अग्नि के समान सदा पवित्र हो।"

"स्वामी! भावुकता का त्याग करें। इस अभागिन को अग्नियों का वरण करने की कृपा पूर्वक आज्ञा प्रदान करें। आपने अपने नाम एवं कुल की मर्यादा के अनुरूप पतित रावण को दण्ड दिया है। आपकी मर्यादा भी यही थी। परन्तु हे स्वामी! आप केवल प्रेम वशीभूत होकर यश, अपयश का विचार किये बिना इस अभागिन को अयोध्या चलने का आदेश कर रहे हैं। यह सम्भव नहीं है मेरा घर तो मेरे सम्मुख धधकती ज्वालायें हैं। प्राणेश। एक ही भिक्षा चाहती हूँ। एक ही चाह है। लपटों से आपको निहारती ही रहूँ। विचार आप में ही खड़ा रहे, फिर–फिर आपके चरणों की सेवा मिले!"

"जानकी। ऐसा नहीं होगा। तुम अग्नियों का वरण नहीं।"

"सूर्यकुल मणि । कृपा पूर्वक आज्ञा प्रदान करें। जानकी, महान, रघुकुल का कलंक बनकर एक क्षण भी जीना नहीं चाहेगी। सब शेष हो चुका है स्वामी। ज्वाला के अतिरिक्त अब कुछ भी शेष नहीं हैं। ये ज्वालायें ही पापों

का प्रायश्चित हैं। यही पावन गंगा है।"

राघवेन्द्र समझा रहे हैं परन्तु महान जानकी ज्वालाओं का वरण करने को आतुर है! उन्होंने मन से सबको क्षमा ही नहीं कर दिया है वरन् सभी विचारों का भी परित्याग कर एक "श्री राम" रूपी विचार में एकाग्र हो चुकी है। दूर लक्ष्मण जी एवं विभीषण आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े हैं। दृढता पूर्वक जानकी ज्वालाओं की ओर बढ़ती है। राघवेन्द्र की आवाज भी मानो उन तक नहीं पहुंच रही हैं वे लपटों में प्रवेश कर ही जाती है राघवेन्द्र तत्क्षण उन्हें बलपूर्वक बाहर खींच लेते हैं। राघवेन्द्र की मुख मुद्रा शान्त है। वाणी गम्भीर एवं स्थिर है "जानकी। राघवेन्द्र मात्र प्रेम के वशीभूत होकर तुम्हें अग्नि–प्रवेश से नहीं मना कर रहे वरन् समाज, धर्म, मर्यादा और मानवता के हित में तुम्हें अग्नि–दाह से रोक रहे हैं। जानकी। आज अकेली तुम ही नहीं जलोगी। युगों की निरीह भोली अबलायें जलती रहेगी। उस सारे पाप का कारण हम और तुम होगे।"...

"राघवेन्द्र। मैं कुछ सोच नहीं पा रही हूँ। मेरे कारण कलंकित हों, यह विचार ही असह है।"

"हमारे कारण युगों तक अबलायें; निरीह और निष्पाप जलती रहे। समाज एक गलत अमानवीय परम्परा को धारण करे। ऐसा भी तो असह है।"

"राघवेन्द्र! मैं कुछ सोच नहीं पा रही हूँ। भ्रमित हूँ।... "जानकी ! मैं सत्य की राह पर हूँ। मेरा साथ दो।".

"प्रभु! एक वचन दो। जब कभी भी किसी ने मेरा नाम लेकर महान रघुवंश को अपमानित करना चाहा; आप तत्क्षण मेरा परित्याग कर देंगे। "यदि तुम चाहती हो तो मैं वचन देता हूँ। जानकी मुझे पूर्ण विश्वास है कि समाज हमारे द्वारा प्रतिपादित मर्यादा का पूर्ण सम्मान करेगा। राम स्वयं को समाज पर थोपना भी नहीं चाहेगा। यदि समाज हमारी मर्यादा को नहीं स्वीकारेगा तो राम तुम्हारे साथ ही समाज का भी त्याग करेगा।"

तभी ज्वालाओं से अग्नि देव प्रकट हुये। उनकी देह से सहस्त्र मणियों की कान्ति प्रस्फुटित हो रही थी। उन्होंने दोनों को सम्बोधित करके कहा, "जानकी ! तुम पवित्र एवं निष्पाप हो। तुम्हे मेरी अग्नियाँ कभी जला न पावेंगी? हे राम! तुम सत्य हो! मर्यादा–पुरूषोत्तम धरती तुम्हें सदा पुकारेगी।"

।।नारायण हरि।।

6

श्री राम अवध में

श्री रामचन्द्र जी अवधेश सुशोभित हुये हैं। प्रजा आनन्द मग्न हैं। श्री भरत जी के सुख की सीमा कहाँ! पिछली पीड़ायें मिटती जा रही हैं। समय पुराने घाव भर गया हैं।

श्री रामचन्द्र ने लंका को जीतने के उपरान्त, उसका सिंहासन विभीषण को सौंप दिया था। भरत महान की, वरद संस्कृति के पुत्र, आधीनता-में विश्वास नहीं करते। पूर्वी पाकिस्तान को जीतने के बाद भारतीय सेनायें बंगला देश की नई सरकार को बागडोर सौंपकर लौट आई थी। किसी को पराधीन बनाने में वीरता नहीं है। निरीह, निरपराध, भोले पुरुषों को गुलाम भारत के संस्कृति में कायरता ही नहीं, महापाप है। परमेश्वर को दी गयी गाली के समान है। अबलाओं को जबरन पकड़कर वैश्या बनाकर बेचना अधर्म है। मनुष्यता से गिरा हुआ ईश्वर का आदेश नहीं हो सकता वह तो शैतान की ही पूजा होगी। रामचन्द्र से आज स्वतन्त्र भारत देश की वर्तमान कथा तक; भारत देश ने महान मूल्यों का ही पालन किया है। विश्व के दूसरे धर्मावलम्बी असुरत्व से प्रेरित, तथाकथित ईश्वरवाद की बात को करते रहे, परन्तु उनके गन्दे हाथ मानवता को गुलामी में जकड़ कर ईश्वर वाद का अपमान ही करते रहे। मनुष्यता को गुलाम बनाने वाले, ईश्वर और धर्म के हत्यारे ही तो हैं। गुलाम ईश्वर ही तो हो रहा था। काश वे मनुष्य बन पाते और अपने अन्तर में झाँक पाते।

समय पंख लगाये उड़ा जा रहा है। श्री राम को पाकर सरयू के तट महक उठे हैं। तीन वर्ष बीत गये हैं। (यहाँ बहुत से कथाकारों ने समय नहीं दिया है। परन्तु अन्य ने अलग–अलग समय बताया हैं जो कि तीन वर्ष से सात वर्ष के भीतर ही है।) राजा राम की नगरी असीम सुख और आनन्द को प्राप्त है।

अभी पौ फटने का शेष हैं पूरब में मोहक स्निग्ध छटा सी आभासित हो रही है। राघवेन्द्र जानकी जी के साथ प्रातः भ्रमण हेतु रथ पर निकले हैं। राघवेन्द्र स्वयं रथ हांक रहे है। जानकी जी उनसे रास ले लेती हैं। अब वे

रथ हांकने लगी है। उनकी मोहक मुस्कान, नेत्रों में जगमग लहराते, प्रेम के मोतियों का अक्षय भण्डार। क्षण क्षण रस बरस रहा हैं। जानकी जी गर्भवती हैं। मातृत्व उनके अंगों से प्रस्फुटित होकर उनके सौन्दर्य को सहस्त्र गुणा बढ़ा रहा है। रथ नगर की गलियों से निकल कर सरयु के तट पाने को बढ़ता जा रहा है। तभी....

"तुम समझती हो कि मैं तुम्हें घर में रख लूँगा? नीच। रात भर किसके साथ रही? बता?"

"स्वामी मुझ पर दया करो। मैं निरपराध हूँ।"

"जा–जा। मैं राम नहीं जो तुझको घर में बसा लूँ। दुष्टे। निकल जा।".

...

रथ रूक गया है। धोबी अपनी पत्नी को डांट रहा है। जानकी स्तब्ध खड़ी सुन रही है। उनके नेत्र छलछला आये हैं। राघवेन्द्र घोड़ों की रास उनसे लेकर रथ तेजी से आगे बढ़ा ले जाते हैं। परन्तु जो होना था, वह तो हो ही चुका है। गहन विषाद की छाया जानकी के चेहरे पर नाचने लगी हैं। दोनों मौन हैं। रथ आगे बढ़ता जा रहा है। दोनों के अन्तर में तूफान उठ रहा है। जानकी को उनके ही शब्द....."एक वचन दो। जब भी कोई मेरा नाम लेकर महान रघुवंश को कलंकित करेगा; आप तत्क्षण मेरा परित्याग".

न जाने कितनी बार यह वाक्य दोनों के अन्तर्मन में गूंजते रहे हैं। मौन फिर मौन ही बनकर रहा गया है। दोनों फिर आपस में कहां बोल पाये हैं।

राघवेन्द्र सारा दिन विचारों में ही खोये रहे हैं। "जानकी। काश। तुमने वचन की बात न की होती। मेरे बिना तुम कैसे जी पाओगी? राघवेन्द्र अब तुम क्या करोगे? क्या अपने वचन से विमुख हो जाओगे? फिर तुम यह भी क्यों भूलते हो कि तुम मात्र एक पति ही नहीं वरन् अयोध्या के सम्राट भी तो हो? जब तुम जन–जन के सम्मान के अधिकारी हो तो उनके सन्देहों का उतना ही उत्तरदायित्व तुम पर भी तो है? बोलो? क्या निर्णय है तुम्हारा।

राघवेन्द्र विचारों में खोये बस टहलते रहे हैं। बात सिर्फ एक घोबी की ही नहीं; वरन समाज के एक वर्ग ने श्री राम की मर्यादा को समाज के विपरीत माना है तथा काना–फूसी करते रहे हैं। उनके मत से इस प्रकार की मर्यादा नारी को उच्छंखल बनने का साहस देगी और समाज दूषित हो

जावेगा।

जानकी की भी वही स्थिति है। "काश"! राघवेन्द्र! तुमने मुझे स्वयं को अग्नियों को समर्पित करने दिया होता! आज तुम इतने बड़े अपमान को तो न प्राप्त होते। रघु के महान वंशज! तुम्हारी लोक निन्दा और अपमान का कारण मैं बनी। ओह...काश! राघवेन्द्र...तुम कुल की मार्यादा के अनुरूप आचरण कर पाते। देव! तुम अपने वचन को पूरा कर पाते। आह! जानकी! तेरे बिना राघवेन्द्र कितने उदास होंगे। महलों का सूनापन क्या उन्हें जीने देगा....जानकी...तू भी क्या राघवेन्द्र के बिना जीवित रह पावेगी?"

दिन यूं ही ढला हैं रात और भी अधिक पीड़ा और व्यथा को लेकर उतर आई है। राघवेन्द्र उद्यानों में रात भर टहलते रहे हैं। और जानकी जगदम्बा के मन्दिर के ठण्डे फर्श पर। दोनों तड़प रहे हैं। दोनों व्याकुल हैं। दोनों एक दूसरे को सांत्वाना देना चाहते हैं। परन्तु एक दूसरे का सामना करने का साहस दोनों में नहीं है।

और इन क्षणों के वर्णन का साहस, अब इस संन्यासी में भी तो नहीं है। हे राम!

।।नारायण हरि।।

7

लक्ष्मण को आदेश

"लक्ष्मण। आज फिर, जानकी को वन जाना होगा। तुम उनको लेकर जाओ। महर्षि बाल्मीकि की कुटिया के समीप छोड़ देना। जब पूछें। ऐसा क्यों? तो कह देना सम्राट राम के यही आदेश हैं।"

"भैया!! उनका अपराध?" लक्ष्मण जी को मानो अपने कानों पर विश्वास ही न रहा हो।

"अपराध?" राघवेन्द्र चौंके। पुनः थिर गम्भीर होकर कहा, "जानकी का अपराध? नहीं....राज दण्ड दिया गया है।" राघवेन्द्र ने कहा।

"क्या मैं सम्राट श्री राम के दण्ड के कारण को जानने की याचना कर सकता हूँ? अपराधी को उसका अपराध बताये बिना दण्ड घोषित करना तो अनुचित होगा।" लक्ष्मण जी की वाणी से व्यंग का तीखापन हैं। राघवेन्द्र शान्त हैं।

"लक्ष्मण! प्रजा ने मेरी मर्यादा में सन्देह प्रकट किया है। जनादेश की अवहेलना नहीं हो सकती। जानकी को मुझसे त्यक्त होकर तापस वनवासी जीवन ही बिताना होगा।"

"भैया...जिनकी अग्नि–परीक्षा हो चुकी है। जिन्हें स्वयं अग्निदेव ने प्रकट होकर वरद किया तथा जिस महान मर्यादा का स्वयं अग्निदेव ने अनुमोदन किया। जिस मर्यादा का आपने स्वयं प्रतिपादन किया है। आज आप उन्हीं को खण्डित करना चाहते हैं। क्या यह अनुचित नहीं है? सिर्फ इसलिए कि कुछ प्रजाजनों ने उनमें अविश्वास ---- ".

"लक्ष्मण! काश...मैं इस देश का सम्राट न होता और जानकी सम्राज्ञी न होती तो उनको वन नहीं जाना होता। जब जन–जन की आस्था और सम्मान के हम अधिकारी रहे हैं तो उनकी अनास्था का उत्तर देना भी तो हमारा कर्तव्य है। लक्ष्मण। जानकी को वन जाना ही होगा।

"राघवेन्द्र....जानकी तो तभी अग्नियों का सम्मानपूर्वक वरण करना चाहती थी। आपने ही उन्हें रोका था। आज जब जानकी परित्यक्ता होकर लोक

निन्दा और जग हंसाई का कारण होगीं तो क्या आपका यह न्याय होगा? आपके और रघुवंश के सम्मान के लिए क्या यह उचित होगा? मैं आपकी आज्ञा का पालन नहीं करूंगा"

लक्ष्मण जी ने दृढ़ता पूर्वक कहा:– "लक्ष्मण...यह भाई राम की आज्ञा नहीं, सम्राट राम का आदेश है। राजाज्ञा की अवहेलना कदापि सहन न होगी।" राघवेन्द्र ने कहा।

राघवेन्द्र की मुखमुद्रा अति कठोर हो चुकी थी। प्रत्येक शब्द घन के प्रहार के समान कठोर था। लक्ष्मण जी सर्वांग कांप उठे। नेत्रों से अश्रु छलछला उठे। "भैया! अब मैं कुछ न कहूँगा। आपकी आज्ञा का पालन करूंगा। भैया...लक्ष्मण मर चुका।"

लक्ष्मण जी तेजी से घूमे और बाहर निकल गये। काश...लक्ष्मण पलटकर देख पाये होते श्री राम के विशाल नेत्रों में लहराते आंसुओं की घनघोर घटाओं को।

।।नारायण हरि।।

8

जानकी वन गमन

लक्ष्मण भी जब जानकी जी के पास गये तो लगा जानकी जी उन्हीं की प्रतीक्षा में तैयार बैठी हुई थीं। उनकी देह पर कोई आभूषण नहीं था। शान्त, गम्भीर मुख मुद्रा! शान्त, स्थिर नेत्र! संयत वाणी! वे उठीं और लक्ष्मण के साथ चल दीं! दोनों रथ पर बैठे। अभी प्रभात नहीं हुआ था। अन्धेरों को चीरता रथ नगर से बाहर चल दिया। जानकी ने कुछ भी न पूछा, कुछ भी तो न कहा, लक्ष्मण जी बाहर अन्धेरे को ओर मुंह किये सिसक उठे—माँ—आज मैं तुम्हें कहाँ लिये जा रहा हूँ? किसके सहारे...कई स्थानों पर घोड़ों ने विश्राम लिया। जानकी निर्विकार भाव से मौन रहीं। लक्ष्मणजी चाहकर भी कुछ कहने का साहस न बटोर पाये। बाल्मीकी के आश्रम के समीप जानकी रथ से उत्तर पडीं। लक्ष्मण की धैर्य शक्ति समाप्त हो गई! दौड़कर उनके चरणों में लिपट पड़े। फूट—फूट कर रोने लगे! "माँ....."बस इतना ही तो कह पाये लक्ष्मण———

"लक्ष्मण—धैर्य धारण करो—महान क्षत्रिय इस प्रकार विचलित नहीं होते———"जानकी ने उनके सिर पर हाथ फेरते हुए समझाया। "माँ—मैं सम्राट श्रीराम से कह आया हूँ कि लक्ष्मण मर चुका है मुझे अपने चरणों में स्थान दो—मैं लौटकर अयोध्या नहीं जाऊँगा———

"नहीं लक्ष्मण—तुम ऐसा कदापि नहीं करोगे—लक्ष्मण—राघवेन्द्र को तुम्हारी अत्यधिक जरूरत है। उन्हें दण्ड मत दो—उनका हृदय खण्ड—खण्ड हो चुका हैं उन्होंने, जो परम उचित था वही किया है। मेरे बिना उन्हें कितना कष्ट होगा—सूने महल उन्हें कितना सतावेंगे, सुबह सूनापन लिए जगावेंगी उनको—दिन राज—काज में किसी तरह काट लेंगे। परन्तु साँझ की खामोशी...? नहीं लक्ष्मण—नहीं———देखना राघवेन्द्र कहीं टूट न जायें——लक्ष्मण उन्हें सहारा देना——बस—तुम अभी लौट जाओ——मेरे आदेश की अवहेलना न करो—यथा शीघ्र जाओ राघवेन्द्र व्याकुलता से तुम्हारी राह देखते होंगे—अब एक शब्द भी न कहो——चले जाओ लक्ष्मण———तुम्हें जानकी की सौगन्ध..."

लक्ष्मण जी आँसुओं से महातपस्विनी के चरण धोते, हिचकियाँ लेते रथ पर बैठ गये हैं–रथ पलट कर चल दिया है। जानकी वन में खड़ी, धुंधले होते रथ को एकटक देखती रहीं। रथ ओझल हो गया–जानकी के नेत्र बरस उठे–वह सांझ वन की कितनी उदास थी– जानकी–तू कहां–कौन है तेरा––सारा अतीत सिमट कर शून्य बन गया–––वर्तमान मात्र एक निर्जन घनघोर वन–और भविष्य? न जाने क्या हो––घने वन समीप, गहराती विशाल गंगा––दूर दिये टिमटिमाती लौ–––महर्षि बाल्मीकि की कुटिया–जानकी.... ।।नारायण हरि।।

9

लक्ष्मण का लौटना

जानकी जी को वन में छोड़कर लक्ष्मण जी लौटकर आते हैं तो पाते हैं राम को टूटा हुआ उजड़ा हुआ–हताश––दोनों भाई मौन हैं। लक्ष्मण जी सिर झुकाये खड़े हैं। राघवेन्द्र पूछने का साहस बटोर रहे हैं। दस–दस सहस्त्र असुरों को मारने वाले श्री राम स्वयं में शक्ति और साहस का नितान्त अभाव पाते है।

लम्बी नीरवता को उनके शब्द भंग करते हैं–

"लक्ष्मण...तुम जानकी को वन में अकेला छोड़ आये––उसने कुछ कहा?"

"सम्राट श्री राम के आदेश का सेवक ने पालन किया। जानकी ने बस इतना ही कहा कि लौटकर उनकी ही चरण सेवा करूं...उन्होंने मेरी सेवा नहीं स्वीकारी। कहा–तुरन्त लौटकर जाओ–देखना....उन्हें कोई कष्ट न हो"

"महान जानकी––"राघवेन्द्र ने गहरी निश्वास लेकर कहा––"परित्यक्ता––लोक निन्दा की अधिकारिणी ––राजदण्ड को प्राप्त––––"लक्ष्मण ने व्यंग किया।

"नहीं लक्ष्मण––मैं दो धर्मो के बीच फंस गया था। एक ओर राष्ट्र का धर्म था और दूसरी ओर पति का धर्म––राम ने राष्ट्र की मर्यादा की रक्षा की हैं परन्तु पति धर्म से विमुख होकर–लक्ष्मण ––अश्वमेध यज्ञ की घोषणा करो––"

"यह सम्राट राम का आदेश है?" लक्ष्मण ने कटाक्ष किया।

"नहीं लक्ष्मण––––यह एक भाग्यहीन, भाई की प्रार्थना है––लक्ष्मण––यह कांटो का मुकुट अब सहन नहीं होता। अश्वमेधयज्ञ की घोषणा करो––––राम, इन महलों में नहीं रह पावेगा––लक्ष्मण––राम का गृहस्थ जीवन समाप्त हो चुका––उस निष्पाप, तपस्विनी का सामना करने का साहस अब राम में नहीं हैं सरयु के तट, अश्वमेधयज्ञ की तैयारी करो––––––राम सरयु में प्रवेश करेगा–"

"भैया———"लक्ष्मण फूट–फूटकर रो पड़े।

"हां ! लक्ष्मण!! समाज ने राम की मर्यादा नहीं स्वीकारी। राम ने भी, स्वयं को समाज पर थोपना नहीं चाहा। यही इच्छा राम की प्राण बल्लभा, जानकी की भी थी। महान जानकी...राम ने समाज के आदेश को स्वीकारा––अपनी ही मर्यादा की बलि–वेदी पर, राम और जानकी ने स्वेच्छा से अपना बलिदान किया हैं राम आज भी अपनी मर्यादा पर दृढ़ है–अटल है———समाज ने हमारी मर्यादा को अस्वीकार किया है। हम दोनों ने स्वयं को कायरता पूर्वक समाज पर थोपना भी नहीं चाहा है। हम दोनों अपनी मर्यादा के साथ समाज को छोड़ रहे हैं समाज ने हमारी मर्यादा अस्वीकारी है–हम समाज को अस्वीकार करते हैं––जाओ––अश्वमेध यज्ञ की घोषणा करो–यह सिंहासन और मुकुट का राम त्याग करता है———सरयु के तट राम स्वयं को मिटाकर, सरयू के उसपार संन्यासी होगा––

"भैया———"लक्ष्मण जी श्री राम के चरणों से लिपट कर बरस रहे हैं।

।।नारायण हरि।।

10

जानकी–गंगा और बाल्मीकि

"माँ, गंगा...मुझे शरण दो....माँ....अब तुम्हीं सहारा हो...अभिशप्त, परित्यक्ता को अपनी गोद में समेट लो माँ–––राघवेन्द्र के बिना मैं जी भी तो नहीं सकती–अग्नि देव ने मुझे वरदान दिया है–उनकी ज्वालायें मुझे न जलावेंगी––अब तो वरदान भी अभिशाप बन गया हैं मुझे भी शान्ति नहीं–शरण न मिल पावेगी–माँ–तुम ही दया करो–मुझे अपने अंग में समेट लो माँ–"

गंगा की उत्ताल के सम्मुख खड़ी मौन जानकी–––अन्तर्मन से गंगा को मौन पीड़ा सुनाती; लहरों में खो जाने की अनुमति चाहती–––जानकी आगे बढ़ती हैं–––––आश्चर्य –––––लहरे पीछे सिमटने लगती हैं–

"जानकी तुझे यहां भी शरण नहीं है–गंगा के अंग में भी तुझे स्थान नहीं है––अग्नि तुझे जलायेंगी नहीं–––गंगा तुझे अपने अंक में सुलायेगी नहीं–फिर क्या करेगी तू कहाँ जायेगी? कौन है तेरा?"–

"देवि–तुम कौन हो–पवित्र गंगा ने मुझे समाधि में प्रकट होकर दर्शन दिये हैं और तुम्हारी रक्षा का आदेश किया है–" चौंककर, पीछे की ओर घूम गयी जानकी–––एक वृद्ध, श्वेत जटा–जूट धारी तापस–––कौन हो सकते हैं? तपस्या का दिव्य, तेज, मणि सा प्रस्फुटित होता सम्पूर्ण शरीर पर! ओह–महर्षि बाल्मीकि––माँ गंगा के आदेश पर तुझे लेने आये हैं–––"महर्षि–––" जानकी का गला रूंध गया।

"तुम कौन हो देवि––मुझे तुम, मेरे महाकाव्य की, नायिका सी लगती हो–– श्री राम–कथा महाकाव्य की नायिका सी––देवि––तुम कौन हो? क्यों आत्महत्या करना चाहती थी?"

"महर्षि––मैं अभिशप्त नायिका ही हूँ––श्रीराम चन्द्र की परित्यक्ता–सीता–"जानकी फफक कर रो उठी––

"महासती, परम पवित्र, अग्नि–देव द्वारा पूजित जानकी का परित्याग मर्यादा पुरूषोत्तम श्री रामचन्द्र द्वारा क्यों?"

"प्रजाजनों ने उनकी मर्यादा को नहीं स्वीकारा है–राघवेन्द्र ने स्वयं को

समाज पर थोपना भी नहीं चाहा है–"

"यह तो घनघोर अन्याय है? क्या श्री राम भी..."

"महर्षि –आप उनके लिए कुछ न कहेंगे? मैं सह न सकूंगी––ओह––" जानकी मुंह ढांप कर रो पड़ी।

"क्षमा करें देवि––आवेश में अवश्य ही अनुचित कहने जा रहा था–श्री राम तो मेरे आराध्य हैं––––आप आश्रम में पधारे––––आप मेरी धर्मपुत्री बनकर आश्रम में रहे––––आप मातृत्व को प्राप्त हैं––ऐसी अवस्था में आत्महत्या तो जघन्य अपराध है––––श्रीरामचन्द्र की महान सन्तति से मानवता को वरद करने हेतु आपको जीना ही होगा। ।।नारायण हरि।।

11

मुनि वशिष्ठ का निर्णय

"गुरूदेव——रक्षा करो——राघवेन्द्र ने मुकुट और सिंहासन का परित्याग कर दिया है——अवधेश अश्वमेधयज्ञ करते सरयु में समाने को आतुर हैं——"

लक्ष्मण जी वशिष्ठ मुनि के चरणों से लिपट कर बालकों की भांति फूट–फूटकर रो पड़े, वशिष्ठ जी चौंक उठे–

"राघवेन्द्र!! ऐसा क्यों? क्या सीता के प्रति उनमें विरक्ति उत्पन्न–"

"गुरुदेव!——जानकी जी का उन्होंने परित्याग कर दिया। उनके आदेश से मैं मां जानकी को बाल्मीकि ऋषि की कुटिया के समीप छोड़कर——"

"लक्ष्मण——"

जी गुरुदेव——राघवेन्द्र की मर्यादा को समाज के कुछ लोगों ने अस्वीकारा है——राघवेन्द्र ने स्वयं को समाज पर थोपना भी नहीं चाहा है। जानकी का परित्याग करने के उपरान्त वे स्वयं भी समाज से त्यक्त होकर——"

लक्ष्मण जी पूरी घटना वशिष्ठ जी को सुनाते हैं।

"लक्ष्मण——अवधेश को रोकने की सामर्थ्य अब किसी में नहीं है——"

"गुरुदेव–भाई राम ने क्या सुख उठाया? मां सीता को क्या मिला——पहले चौदह वर्ष का वनवास——वनवासी तापस जीवन——लौटे तो जीवन का सुखद ठहराव केवल तीन वर्ष——पुनः परित्यक्त हुई निष्पाप पवित्र जानकी——राघवेन्द्र समाते सरयु में——यह तो घनघोर अन्याय है–"

"महान पुरुष, देवता और अवतार सांसारिक सुख के लिए नहीं प्रकट होते हैं लक्ष्मण–उनका जीवन संसार की पीड़ाओं को दूर करना; उन्हें सत्य की राह दिखाना; मार्यादाओं का प्रतिपादन करना और उन्हीं में लोप हो जाना मात्र ही होता है–राघवेन्द्र स्वयं नारायण का अवतार हैं——वे फलदार वृक्ष के समान हैं जिसे लोग जितने पत्थर मारते है पेड़ उतने ही अधिक फल देता है। स्वयं खाता है पत्थरों की चोट असीम, असह पीड़ा——प्रत्युत्तर में पीड़ा देने वालों को देता है अपने ही तन से प्रकट, अपने ही अंग, रसदार

मीठे फल——"

"गुरुदेव ——उन्हें कुछ काल के लिए ही रोके। हम सब अनाथ हो जावेंगे——उनके बिना एक क्षण भी तो असह होगा———गुरुदेव——हम अभागों पर दया करें।———"

"मैं प्रयत्न करूंगा! भले ही ऐसा करना अनुचित ही हो। शीघ्र ही उनसे मिलने के लिए आ रहा हूँ!"

लक्ष्मण जी के जाने के कुछ ही काल उपरान्त ब्रह्मर्षि वसिष्ठ भी चल दिये। जब राघवेन्द्र के महल के समीप पहुँचे तो बाहर अयोध्या के गणमान्य नागरिकों, विद्वानों, सभासदों को उदास सिर झुकाये बैठे देखा। वे सब राघवेन्द्र से अनुनय, विनय कर चुके हैं परन्तु राघवेन्द्र ने कुछ भी सुनने से इन्कार कर दिया है। राजमाताओं ने विनती की परन्तु वे अटल रहे! कैकेई ने बहुत बार समझाना चाहा है परन्तु राघवेन्द्र नहीं माने हैं राघवेन्द्र के अटल निर्णय की सूचना सारे प्रदेश में बिजली की तरह फैल गयी है। जिसने सुना है वहीं तड़प उठा है! जानकी के परित्याग की बात सुनकर जनता स्तब्ध रह गई है! जिसने वन के चौदह वर्ष, भय, आतंक, विछोह, पीड़ा और कांटो पर सो कर बिताये; बेचारी तीन वर्ष भी सुख के न जी पाई। परित्यकता हुई!! हा दैव!! क्या अनर्थ हो गया! नारियां अचेत हैं चेतना लौटती है तो करूण क्रन्दन में।

वशिष्ठ जी राघवेन्द्र को समझाते हैं परन्तु वे नहीं मानते हैं। राघवेन्द्र का कहना है कि वे अश्वमेधयज्ञ के अधिकारी हैं वे चौदह वर्ष का वनवास कर चुके है। उन्हें तत्क्षण यज्ञ की अनुमति मिलनी चाहिए। वशिष्ठ जी व्यवस्था देते हैं कि राजसूय यज्ञ के पूर्व का वनवास अमान्य है इसलिए तत्क्षण यज्ञ की अनुमति नहीं मिल सकती। अन्त में वशिष्ठ जी निर्णय देते हैं कि राघवेन्द्र राजसूय यज्ञ के उपरान्त ग्यारह वर्ष तक धर्म पूर्वक निमित्त होकर राज्य का संचालन करें। उसके उपरान्त वे अश्वमेधयज्ञ के अधिकारी है।

।।नारायण हरि।।

12

राजसूय यज्ञ

राजसूय यज्ञ धूमधाम से समापन हुआ है। "राज" अर्थात ज्योति तथा "सूय" उत्पन्न करना। "राजसूय" यज्ञ वानप्रस्थ से पूर्व का संकल्प यज्ञ है। इतना वर्णन महाभारत में भी आया हैं इस यज्ञ का अर्थ राजाओं को आधीन करना अथवा अपनी श्रेष्ठता की धाक जमाना (जैसा कि कालान्तर में विद्वान अर्थ लगाते रहे हैं) कदापि नहीं था।

"राजसूय" अर्थ है। राजपाठ को मात्र निमित्त रूप से धारण करता मैं ज्योति को उत्पन्न करने वाली राह जा रहा हूँ। उसमें सभी राजाओं ऋषियों आदि को निमन्त्रण भेजने की प्रथा रही हैं। सभी राजाओं तथा प्रजाजनों के सम्मुख श्री रामचन्द्र के तन के वस्त्राभूषण तक ब्राह्मणों को दान कर दिये हैं। जनता अश्रुपूर्ण नेत्रों से सब देख रही है। जिन्होंने वनवासी तापस जीवन चौदह वर्ष बिताया; वे पुनः ऐश्वर्य को त्यागकर वैराग्य को प्राप्त हो रहे हैं। प्रजाजन रो रहे हैं। वे उन लोगों को मन ही मन धिक्कार रहे है। जिन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम की मर्यादा में सन्देह व्यक्त किया है। नगर की नारियाँ कह रही है कि वे महा अभागिन हैं नारी मात्र के रक्षक तथा समाज में उन्हें सम्मानित एवं प्रतिष्ठित कराने वाले, राघवेन्द्र, आज जानकी परित्याग कर, स्वयं भी समाज को विधिवत परित्यक्त करके जा रहे हैं। वे बिलख रही है। बारम्बार ऐसे समाज को धिक्कार रही हैं। प्रभु से प्रार्थना करती हैं कि प्रभु उन्हें भी धरती से उठा लें। इस समाज की घुटन और सड़ान्ध में वे एक क्षण भी नहीं जीना चाहती है।

राघवेन्द्र के शरीर पर, पीतम्बर, आचार्यें द्वारा ओढ़ाया जा रह हैं सारी प्रजा फूट फूटकर रो पड़ी है। पीताम्बर वेशधारी श्री रामचन्द्र सभी ऋषियों को प्रणाम करते, सभी राजाओं का यथा अभिवादन करते गुरु वशिष्ठ के आश्रम में जा रहे हैं। राघवेन्द्र रनिवास, महल, ऐश्वर्य सब त्याग चले। राज्य संचालन का भार श्री भरत पर लक्ष्मण एवं शत्रुध्न पर छोड़ दिया है। राजा राम वैरागी हो गये।

उन दिनों से उपराम होकर प्रत्येक व्यक्ति राजसूय यज्ञ करता वानप्रस्थ

धर्म को धारण करता था। राघवेन्द्र के वैराग्य से दुखी होकर बहुत सी प्रजा भी समय असमय राजसूय यज्ञ करती बनवास व्रत धारण कर गई है। सम्पूर्ण राज्य में कुहराम मच गया है।

भरत जी ने राज्य चिन्ह धारण करने से इन्कार कर दिया है। लक्ष्मण और शत्रुध्न की भांति वे भी असह पीड़ा को प्राप्त हैं। एकान्त पाते ही नेत्र बरस उठते हैं। सावन भादों की झड़ी लग जाती है।

श्री रामचन्द्र की प्रतिमा को उन्होंने मुकुट सहित सिंहासन पर बिठाया। स्वयं उनके चरणों में ही बैठते राज्य को निमित्त होकर धारण करते तपस्या व्रती हैं।

राजसूय यज्ञ की सूचना देने जब लक्ष्मण जी मुनि बाल्मीकि की कुटिया पर गये थे तो रात्रि विश्राम वहीं किये थे। उसी रात्रि जानकी पुत्र रत्न से वरद हुई थीं। पुत्र प्रजनन के कष्ट के साथ ही श्री रामचन्द्र के वैराग्य हेतु राजसूय यज्ञ की सूचना से उन्हें कितनी पीड़ा हुई थी! उसकी कल्पना कौन कर सकता है। बार–बार अन्त– मन कराह उठता था। जानकी तेरे पुत्र का कैसा भाग्य है कि पिता का स्पर्श सुख भी न पा सकेगा कभी! आह! राघवेन्द्र ! तुम अपने ही पुत्र को कभी प्यार न कर पाओगे! कभी गोद में लेकर न घूम पाओगे! समाज की बलिवेदी पर मर्यादा के सहित तुम्हारे अबोध शिशु भी तो बलिदान हो गये, भोले अबोध निरपराध––फिर भी अपराधी से दण्डित! रे समाज! तेरा यही न्याय है।

मुनि वशिष्ठ के आश्रम में वैरागी श्री राम। योग वशिष्ठ सुनते ब्रह्मर्षि वशिष्ठ से! बाल्मीकि के आश्रम में परित्यक्ता जानकी! पितु सुख से वंचित सन्तान को सीने से समेटे! उदास! हा! राम!!

।।नारायण हरि।।

13

अश्वमेध यज्ञ का स्वरूप

त्रेता युगीन ऐतिहासिक घटनाक्रम में संस्कृति की झलक के साथ, विशुद्ध आध्यात्मिक कथा निरन्तर आगे बढ़ती ऐतिहासिक क्रम के साथ ही समापन की ओर अग्रसर है।

मन ही दशरथ (दश+रथ) मन ही दशानन (दशों इन्द्रियाँ जब दस मुँह बने) आत्मा श्री राम हैं, जो घट–घट वासी हैं। जैसे शबरी के झूठे बेर खाये थे; वैसे ही आत्मा होकर प्रत्येक जीव की झूठन को रक्त–मांस, शक्ति, तेज में लौटाते, प्रभु श्रीराम प्रत्येक शबरी के झूठे बेर खाते....अब शबरी भूली राम को।

जब मन दशरथ न बना! वृत्तियां दशानन हुई! बुद्धि (प्रकृति) स्वयं मृग की वासनात्मक लिप्साओं में फँस बैठी। आत्मा श्री राम चल दिये ढूंढने स्वर्णमृग! आत्मा से छूटी देह, निर्जीव होकर आंगन में पड़ी थीं पांव हुये दक्षिण! चल दी लंका(श्मशान घाट) दशानन रावण के देश! मन दशानन, बनाकर अर्थी, बांध रस्सियों से, रथों (कन्धों) पर आरुढ़, उड़ाये लिये जा रहा दक्षिण! लंका! सागर के उस पार! घट फूट गये! मारे और जटायु! लंका (श्मशान घाट) पहुंची है अर्थी! घेरकर बैठ गई हैं राक्षसियाँ, प्रेतनी और त्रिजटा (त्रिगुणात्मक वासनायें)! ठहाके लगाता मन दशानन! आत्मा से छुड़ा लाया प्रकृति को! धरती की बेटी (देह) को! भयभीत कांपती सीता! आत्मा रूपी श्री राम को पुकारती! तड़पती! सरयु (संस्कृति में सरयु का अर्थ वायु मण्डल तथा प्राण वायु भी है। देखें संस्कृति कौस्तुभ) के तट छूट गये! पार कर बैठी लक्ष्मण रेखा! लक्ष्मण रेखा! मर्यादा रेखा? तभी तो ले उड़ा रावण! लक्ष्मण रेखा! अदृश्य शाश्वत रेखा! इस पार राज्य आत्मा श्री राम का हैं वे जीवन हैं! उस पार राज्य रावण का है जो ठंढ़ी अन्धेरी मौत है! मर्यादा लक्ष्मण रेखा की है! पार हुई रेखा! छूट गये सब बना आज अर्थी तक नहीं पहुँच सकती! इसका भय, आतंक उन तक नहीं पहुँच सकता! मर्यादा रेखा की है।

चिता की लकड़ियों पर आत्मा (श्रीराम) की विरह में, जली, भस्मी हुई धरती की बेटी यह देह हमारी! भस्मी ने पानी का संग किया! जंगलों की अशोक वाटिकाओं में भटक चली! पुकारती हा राम! हा राम!!

प्रत्येक पेड़ पौधों में व्याप्त आत्मा रूपी श्री राम प्रकट हो गये! पराजित हुई मृत्यु (रावण)! भस्मी ने पानी का संग किया! खाद बनी! पेड़ों की जड़ों ने ग्रहण किया! आत्मा ज्वालाओं ने यज्ञ हो पुनः अग्नि–परीक्षा द्वारा फल बनी! एक सीता! अनेक अग्नि–परीक्षा!

"इन्द्रायाहि चित्र भानो सुता हमे त्वायवा!
अणविभिस्तानाः पूतासा!"

(ऋग्वेद) 1/3/4

सूर्य की पुत्री धरा ने जब तेरा आवाहन किया, हे महान यज्ञ की ज्वाला! पेड़ों के गर्भ में जब प्रज्जवलित हुई तू! मेरे तन का कण–कण, तेरी रश्मियों में पवित्र होने लगा। तेरी कृपा से भटकती देह (मृत्यु रूपी रावण से अभिशप्त) के भस्मी कण पुनः अन्न में लौट चले!

"इन्द्रायाहि तुतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः।

(ऋग्वेद 1/3/6)

उसी अन्न को अब एक दम्पत्ति ने ग्रहण किया तो पुनः तुझमें ही यज्ञ हो, शिशु रूप धारण करता अन्न, (शिशु गर्भ रूपी) क्षीर सागर से बाहर चल दिया। अग्नि–परीक्षा! अग्नि–परीक्षा!!

जीवन———जड़ता——————विनाश
आत्मा———प्रकृति——————माया

जड़ प्रकृति जब आत्मा का स्पर्श पाती है तो जीवन्त बालक का स्वरूप ग्रहण करती है। आत्मा के विपरीत वासनात्मक जगत में भटकने लगती है तो पुनः आत्मा से त्यक्त हो भस्मी का अम्बार बनती है! आवागमन!

सीता (प्रकृति) धरती में समाती हैं तथा आत्मा सरयू (अनन्त वायुमण्डल) में विलीन हो जाते हैं! पुने प्रकृति लव कुश (लौ अन्न की बालियां और कुशा में) पुत्रवती अर्थात् प्रकट होती हैं! निरन्तर कथा! अहर्निश कथा! सर्वत्र! वैष्णव और स्मार्त मनाते नवरात्र! प्रत्येक दिन सामिग्री के साथ जलाते विषयी मन दशानन की प्रत्येक इन्द्रिय की वासना के अभिशाप! दसवें दिन मनाते दशहरा! हमने मन दशानन को "हरा" (जीतना)! जलाओ पुतला

विषयान्ध मन! बनो दशरथ भजो राम! राम!! राम!!

फिर आती है अमावस की काली अन्धेरी रात....कालिमा ढूँढती अपने कलुषित बेटे दशानन रावण को! भक्त मानते दीपावली! हर ओर दीप जलाओ...आत्मा–ज्योतियों की विजय हुई है.....श्री राम जीते हैं...जीवन ने मृत्यु पर विजय पाई है। भीतर–बाहर, हर ओर, जगमग दीप जलाओ... उदास है कालिमा....मुस्कराते दीपक....खिलखिलाती फुलझड़ियाँ और अनार–अट्ठहास करते पटाखे....गगन में उठते अग्नि बाण....गाते जय–जय राम श्री राजा राम!!!

आओ मित्र–दशहरे के रावण के सामने खड़े हो–पूछो स्वयं से कहीं अपना ही पुतला तो नहीं जला रहे हो? दस इन्द्रियों को यदि दस मुंह बना बैठे हो तो यह रावण का पुतला तुम्हारा भी तो प्रतीक है। हनुमान जलायेंगे तुम्हारे जीवन रूपी लंका को तुम जलोगे–नित्य–ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, लोभ अभाव, दुःख, चिन्ता की अग्नियों में फिर एक दिन, चिता की लकड़ियों पर, दशहरे के रावण से धू–धू कर.....यदि दस इन्द्रियों को रथ (लगाम लगाना, निग्रह करना) दशरथ बने हो तो देह हुई है "अवध–दशरथ अवध के राजा हैं——'अवध' अर्थात् जिसका कोई 'वध' न कर सके। "अवध राम तहां अवध निवास।"

जहां आत्मा रूपी श्री राम हैं अवध अर्थात मृत्यु नहीं है———जहां आत्मा रूपी श्री राम हटे तहां अयोध्या भी समाप्त–आत्मा के हटते ही मृत्यु रूपी रावण के पंजे में, यह देह रूप धरती की बेटी हैं। एक ठन्डी अन्धेरी रात है! मौत!!

।।नारायण हरि।।

14

अश्वमेध यज्ञ की तैयारी

अश्वमेध यज्ञ की तैयारियाँ शुरू हो गयी हैं। अश्वमेध यज्ञ (अ=रहितः श्व=अतीत, कल, मृतः! मेध=प्रवेश करना, व्याप्त होना) का अर्थ है अतीत अर्थात् मृत्यु से रहित अर्थात् नित्य सत्य रूपी आत्मा में प्रवेश करना। व्याप्त होना, आत्माद्वैत करना। वानप्रस्थ, फिर एक वर्ष का अज्ञातवास तब अश्वमेध यज्ञ करता सरयु में वास। आदि काल से चली आ रही परम्परायें–भारतवासियों की संस्कृति–जिसने जीवन को यज्ञ माना जीवन्त पाठशाला की संज्ञा दी। गुरुकुल का भोला ब्रह्मचर्य, युवावस्था का मादक गृहस्थ, समर्पित सेवाओं का वानप्रस्थ, स्वयं को तौलने का, अपना सत्य स्वयं खोजने का अज्ञातवास; फिर अश्वमेध, यज्ञ लहरों में वास! अतीत की इति श्री–लहरों के उस पार प्रकट होता एक अग्निवेश–संन्यासी।

जब भी राजा (कोई भी, गृहस्थ) राजसूय यज्ञ करता था। उसके उपरान्त राज–पाट आदि से विरक्त होकर वैराग्य का पीताम्बर धारी होता था। युवराज निमित्त होकर मन्त्रियों सहित राज्य संचालन करते थे। राजा स्वयं को अन्तिम सत्य में व्याप्त करने के लिए धर्म गुरू, सन्त, संन्यासी, ऋषि सद्गन्थों की सरस्वंती को समर्पिम हो जाता था।

युवराज के अभाव में श्री रामचन्द्र जी अपने अनुज, भरत जी को युवराज घोषित करना चाहते थे। परन्तु भरत जी नहीं माने श्री रामचन्द्र जी की प्रतिमा सिंहासन पर विराज कर, निमित्त भाव राज्य भार सम्भालते हैं।

बारह वर्षो के वानप्रस्थ का विधान क्यों? इसलिए जिस भी कर्म का आप आचरण से त्याग करते हैं उसे मन, विचार और संस्कारों से लुप्त (त्यक्त) होने में इतना समय लग जाता हैं जब तक विषय; चिन्तन, विचार और संस्कार से नहीं मिटा, आप उससे त्यक्त हुये?

दूसरा कारण है, मन के साथ शरीर को बदलने में इतना समय लग ही जाता है अब आप–नियम संयम तपस्या का जीवन धारण करते हैं। शरीर स्वतः निरोग होता, निरोग मन का साथ देता हुआ पुनः नवीन हो उठता है। स्वस्थ शरीर और मन, ईश्वर प्राप्ति को समर्थ है।

तीसरा कारण है कि बिना समर्पित सेवा के तन का ऋण ही नहीं उतर पाया। वानप्रस्थ धर्म प्राणी को समर्पित निष्काम, निमित्त सेवा है। एक वर्ष का अज्ञातवास स्वयं को जानने का है। परखने का है। क्योंकि इसके उपरान्त सारा खेल अग्नियों का हैं। ईश्वर को जाना ज्ञान का विषय है। ईश्वर के लिए ही, अन्तिम रूप से समर्पित हो जाना; एक ही ब्रह्म में स्थित होना तपस्वी की उपलब्धि है।

प्रत्येक ओर सूचना एवं निमन्त्रण जा रहे हैं। सन्त, ऋषि मुनि, तापस, राजा सबको सूचना जा रही है। तपस्वियों को कृपा पूर्वक आदेश एवं आर्शीवाद के लिए निमन्त्रित करने की प्रथा सर्वमान्य प्रथा रही है।

सभी राजाओं को भी सूचना भेजने का जो भाव था। महाराज! मैं चक्रवर्ती साम्राज्य (सन्यास) को प्राप्त होने जा रहा हूँ। अवश्मेध यज्ञ की तैयारियां आरम्भ हो चुकी हैं। आप कृपा पूर्वक साधुवाद हेतु पधारे। सम्भव है अतीत में राजा होकर हम आप से में युद्ध लड़े हो। सम्भव है आपके मन में मेरे प्रति कोई इच्छा, भाव, प्रतिशोध का संकल्प रहा हो। यदि ऐसा है तो आप पधारे। यज्ञ के उपरान्त आप मुझसे बदला न ले पावेंगे–मुझे मारकर भी न मार पावेंगे! स्वयं मर जावेंगे–क्यों? इसलिए; यज्ञ के उपरान्त मैं संन्यासी हूं–चक्रवर्ती सम्राट हूँ–सब में एक ब्रह्म देखूँगा–हत्यारे में भी ब्रह्म ही देखूँगा–उस अवस्था में आप प्रतिशोध न ले पावेंगे।"

अश्वमेध यज्ञ के घोड़े की परिक्रमा का पथ नियत कर दिया जाता था। सभी राजा अपनी सेना सहित आकर परिक्रमा के समीप शिविर लगाते थे। जैसे कि आपने प्रयाग में कुम्भ के मेले में देखा है। संन्यासी, तापस, नगर में राहमहल के समीप ही ठहराये जाते थे। अन्य राज्यों के राजा नगर से दूर हो शिविर लगाते थे।

पर्णकुटी से दण्डधारी महाराज, पीत वस्त्र का परित्याग कर पुनः राजसी वस्त्र धारण करता अपने रंग महल (जहाँ रानियाँ रहती हैं) में प्रवेश पाता था रानियों को परम् ब्रह्म का उपदेश करता, उनसे सन्यास हेतु अनुमति की प्रार्थना करता पुनः बाहर निकलता था और अतीत के प्रतीक दण्ड को अश्व पर स्थापित कर देता था। रानियाँ अश्व के सामने बिछ जाती थीं। वे जानती थी अश्व के जाने का अर्थ? कल उनका वैधव्य होगा।

अश्व को लेकर महाराज रंगमहल के द्वार पर आते थे तो युवराज तथा

अन्य राजकुमार उसको रोकने का प्रयास करते थे। क्योंकि वे जानते थे अश्व के आगे बढ़ने का अर्थ है; कल वे पितु विहीन होंगे! महाराज उन्हें उपदेश करते अश्व सहित सभा भवन में प्रवेश पाते थे। मन्त्री सदस्य रुकने की प्रार्थना करते थे परन्तु अश्व लिए महाराज सिंह द्वार की ओर बढ़ते चले जाते थे। द्वार पर संन्यासी, ऋषि–मुनि, तापस उनका रास्ता रोककर खड़े हो जाते थे। वे कहते थे, महाराज पहले हमारे प्रश्नों का उत्तर दो! हम जानना चाहते हैं तुम इस यज्ञ के अधिकारी हो? वे नाना, वेदांग, आत्मा, सृष्टि आदि के प्रश्न पूछते थे। महाराज उनका समुचित उत्तर देते थे। तब संन्यासी पुष्प वर्षा करते, साधूवाद देते मार्ग से हट जाते। अश्व द्वार को पार कर जाता।

सेनापति अश्व की डोर थाम लेता और महाराज पुनः पर्णकूटी को लौट जाते। अश्वमेध यज्ञ का अश्व दण्ड, छत्र, धारण किये, नगर की ओर बढ़ने लगता। नगरवासी, प्रजाजन पुष्पवर्षा करते जाते। सेनापति अपने अश्व पर बैठे उसके साथ–साथ उसकी लगाम थामे चलते थे। अश्व बढ़ता जाता नगर की सीमा से बाहर हो जाता। सेनापति के साथ घोड़े दौड़ाने लगते। अश्वारोहियों का दल निरन्तर संख्या में बढ़ता जाता। जिस राजा के शिविर के पास से दल गुजरता वह राजा भी अपनी थोड़ी अश्वारोही सेना सहित उनके साथ हो जाते।

तभी एक शिविर के पास से जैसे ही अश्व निकलता; उस शिविर के राजा उसे थाम लेते? सब रुक जाते! ऐसा क्यों हुआ? देखा! अरे? इस राजा ने तो मृत्यु तिलक ले रखा है। सब उसको समझाते कि अब इस भावना को त्याग! अब तक कहाँ सो रहा था? अब तो वह मात्र संन्यासी हैं यदि राजा मान जाते हैं तो मृत्यु तिलक पोंछ दिया जाता अन्यथा राजा को बाकी राजा ललकार कर मार देते थे। अश्व आगे बढ़ जाता। ऐसा सदा नहीं होता था। क्योंकि द्वेषी राजा यज्ञ में सम्मिलित होने आते ही नहीं थे। अश्व घोषित परिधि में ही दौड़ाया जाता था। यह यात्रा सूर्यास्त के उपरान्त तक राजमहल के पिछवाड़े तक अवश्य पहुंच जाती थी।

सेनापति अकेले गुप्त द्वार से महल में प्रवेश पाते। रानियों के सभा भवन में (मृत देह) दण्ड को दोनों बाहों पर लिटाये रानियों के सम्मुख घुटने के बल बैठकर प्रार्थना करतेः– "यह महाराज (अमुक) का मृत शव है। आप

रज शैय्या (बालू) पर इनके साथ शयन करें तथा प्रातः शव दाह हेतु शव सहित यज्ञ शाला में पधारें!"

रानियाँ दण्ड रूपी मृत देह को ग्रहण करती और सेनापति उल्टे पांव लौट जाते। प्रातः रानियां राजकुमारों सहित शव (दण्ड) को लिए यज्ञशाला में पधारतीं। युवराज दाह संस्कार की पूर्ण विधि सम्पन्न कराते थे। श्वेत वस्त्र (समर्पण) में लिपटे महाराज को, आचार्य आदेश करते कि वे अनुभूत करें कि वे स्वयं चिता पर जल रहे हैं। उनको सम्पूर्ण अतीत, उपलब्धियाँ, स्मृतियाँ जलकर शेष हो रही है।

जैसे कोई व्यक्ति मर जाता है उसकी चिता जलती है। उपरान्त उसकी भस्मी नदी जल में प्रवाहित होती हैं उसी प्रकार अतीत के महाराज (जिन्होंने अपना सम्पूर्ण अतीत चिता में जला दिया है) श्वेत वस्त्र में लिपटे (बन भस्मी स्वयं) सरयु (जो भी नदी) में प्रवेश पाते हैं। आचार्य उनके श्वेत वस्त्र को पकड़ लेते हैं। शिखा एवंसूत्र विहीन महाराज (वस्त्र से अलग होते) निर्वस्त्र जल की धाराओ में समा जाते हैं। आचार्य श्वेत वस्त्र को, जो शेष रहता हैं रानियों को प्रदान करते हैं जिसे वे वैधव्य के रूप में ग्रहण करती हैं। उसी श्वेत वस्त्र को धारण करती वे धरती में समाती हैं। किले में ही खोदी गयी गुफा में तपस्या हेतु प्रवेश कर जाती है।

।।नारायण हरि।।

15

लव–कुश

वीरान रंग महल में श्री रामचन्द्र ने प्रवेश किया है! कौन रोकेगा उन्हें? जानकी! वह तो परित्यक्ता है! कुछ देर मौन खड़े रहने के उपरान्त राघवेन्द्र चल दिये हैं। मानों मौन, मन ही मन जानकी से अनुमति मांगी हो। द्वार पर युवराज भी तो नहीं है! बिलखते भाई! रोकने का भी; किसमें साहस शेष है? सब निष्प्राण से स्तब्ध मूक अश्रु बहाये जाते है! हा!! अयोध्या से राजा राम जाते हैं।

मौन, निर्विकार, नीलाभ मणियों के प्रकाश से युक्त, श्री रामचन्द्र सभागृह को पार करते अश्व रहित द्वार पर आते हैं। ऋषि, मुनि, तापस सभी को प्रणाम करते, सभी को विनम्र सहज सन्तुष्ट करते वे आगे बढ़ते हैं। लक्ष्मण जी अश्व की डोरी थाम लेते हैं। रामचन्द्र यज्ञ शाला की ओर बढ़ जाते है।

अयोध्या दुलहिन सी सजी है। परन्तु इस साज–सज्जा में असह पीड़ा भी छिपी नहीं है। सुन्दर वस्त्राभूषण से सजी प्रजा, बिलखती, तड़पती अश्व का स्वागत करती है। हाथ अश्व पर पुष्प वर्षा करते हैं। नेत्र सावन भादों से मूसलाधार बरसते हैं! अचेत होकर सड़कों पर बिछती प्रजा! अश्व नगर के बाहर हो गया है। सेना की छोटी सी टुकड़ी साथ में है। सभी राजा के साथ अश्व दौड़ाने लगे हैं! तभी दो किशोर बालकों ने आगे बढ़कर अश्व को रोक लिया है! उनके माथे पर मृत्युतिलक है। लक्ष्मण जी स्तब्ध उन सुन्दर बालकों को देख रहे हैं! भोले सुन्दर, ज्योर्तिमय, मोहक मुखड़े! विशाल निर्मल नेत्र; गठा हुआ शरीर! भाल पर मृत्यु–तिलक? सारे राजा और सैनिक अश्वारोही स्तब्ध है। भला बालको का श्री राम के प्रति प्रतिशोध कैसा?

"पूज्य चरण! हम दोनों भाई आपको प्रणाम करते हैं। हमारे नाम 'लव' और 'कुश' है। हमारी माता सीता जी है। अश्वमेध यज्ञ के अश्व को हम नहीं छोड़ेगें। पहले आप हमें न्याय दें। हमारे पिता राघवेन्द्र अश्वमेधयज्ञ के अधिकारी कैसे हो गये? उन्हें सन्यास का अधिकार दिया किसने? उन्होंने हमारे प्रति किस धर्म को धारण किया? आप हमें न्याय दिये बिना

अश्व न ले जा पावेंगे। आप चाहें तो हम निरीह बालकों को वध करके इस अश्व को ले जावें। अन्यथा भी तो इस अश्व के जाने का तात्पर्य हमारा पिता सुख से वंचित होना है! हमारा वध ही तो हैं!" लक्ष्मण जी के नेत्रों में अविरल अश्रुधारा प्रवाहित है। शरीर शिथिल होने लगा है। असह पीड़ा के आवेग को रोक सकने में असमर्थ लक्ष्मण जी मूर्छित होकर गिर पड़े हैं। शीघ्रता से राजा अश्वों से उतर उन्हें उठाने का प्रयास करते है। लक्ष्मण जी गहन मूर्छा को प्राप्त हो चुके हैं। सभी अश्वारोहियों के चेहरे इस हृदय विदारक दृश्य से भींग चुके हैं। गहन मूर्छा ने लक्ष्मण जी के मुख को निस्तेज सा बना दिया है।

शीघ्र सूचना भरत जी को पहुँचाई गयी है। शीघ्र ही भरत एवं शत्रुध्न जी वहाँ पहुँचे है। बालकों को देखकर वे भी रो पड़े हैं। धीरे धीरे लक्ष्मण जी सुधि को प्राप्त हो रहे हैं। 'लव' 'कुश' लक्ष्मण जी की मूर्छा से अत्यन्त दुखी हैं सीपी की सी भोली प्यारी आँखों से आँसुओं की लड़ियाँ तो बरस रही हैं परन्तु अश्व छोड़ने को कतई तैयार नहीं है। सूचना श्री राम तक पहुँचाई गई है। दोनों बालकों के सम्मुख सभी पराजित हैं। उन्हें न्याय मिलना चाहिए! इसे कौन नहीं चाहता! काश! यह बालक ही रोक पाते श्री राम को! काश!! अवध को पुनः राजा राम मिलते।

जब महर्षि को अवश्वमेध यज्ञ की सूचना मिली तो जानकी जी को बिना बताये वे 'लव' और 'कुश' को लेकर परिक्रमा पथ पर आ गये। उन्होंने ही दोनों बच्चों को सारा रहस्य बताकर अश्व पकड़ने को कहा था। जानकी जी को इसलिए नहीं बताया था कि ऐसा कदापि न होने देतीं। बाद में जब उनको पता चला कि महर्षि दोनों बच्चों को लेकर परिक्रमा पथ पर गये हैं तो वे अधीर हो उठीं और उनको ढूंढती पीछे चल दीं।

जैसे ही राघवेन्द्र वहां पहुंचे। उनकी दृष्टि दोनों बच्चों पर पड़ी। क्या श्री राम जान गये कि वे अपने ही.... । निर्विकार भाव उनका अविचलित रहा। गम्भीर वाणी में उन्होंने बालकों से अश्व को छोड़ देने को कहा। उन्हें सम्मुख पाकर दोनों बालक स्तब्ध हो गये! न कुछ कह पाये! बस एक टक उन्हें देखते ही रह गये। उनके हाथ शिथिल होने लगे। पेड़ की ओट से महर्षि बाल्मीकि सब देख रहे थे। उन्हें लगा बालक अश्व को छोड़ देंगे। वे शीघ्रता से बाहर आये।

"श्री रामचन्द्र! ये दोनों बालक तुमसे न्याय की भीख चाहते हैं।"

"प्रणाम करता हूँ गुरुदेव! आप बताये इन बालकों के साथ क्या अन्याय हुआ?"

"इन्हें पितृ सुख से क्यों वंचित किया गया? इनका अपराध?" "इसका उत्तर वे लोग ही दे सकते हैं गुरुदेव! जिन्होंने इन्हें पितृ सुख से वंचित किया है।"

"पितृ सुख से वंचित करने वाले स्वयं रामचन्द्र हैं! इन्हें न्याय दो!"

"इन्हें पितृ सुख से वंचित करने वाला मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम नहीं है। उन्होंने कभी किसी के साथ अन्याय नहीं किया।" सब ने चौंककर देखा! सामने जानकी खड़ी थीं। "महामुनि! आपको उचित नहीं था कि आप अश्व को बालकों से पकड़वाते!" जानकी जी कहती गई, "ऐसे समय में जब वे राजसूय यज्ञ के उपरान्त वानप्रस्थ अज्ञातवास को धर्म पूर्वक धारण कर अश्वमेध यज्ञ को पूर्ण करने जा रहे थे। जिन पुलों को राघवेन्द्र पार करने के उपरान्त जला चुके हैं क्या वे अब लौट सकते हैं? आप स्वयं संन्यासी हैं! पुनः जिस न्याय की बात आप राघवेन्द्र से कहते हैं उसका उत्तर तो समाज को देना है। असुर द्वारा अपहृत और समाज द्वारा अपमानित, अपवित्र, त्यक्ता के पुत्रों को न्याय कैसा? महान रघुनन्दन ने समाज के आदेश का पालन किया हैं न्याय की चर्चा का औचित्य क्या?"

सब मौन स्तब्ध खड़े हैं। नेत्रों से पीड़ा वह रही है। एक राम हैं जो निर्विकार हैं। जानकी जी आवेश से कहती जा रही हैं, "लव! कुश! अश्व को श्रद्धा पूर्वक छोड़ दो। भारत कुल श्रेष्ठ; रघुनन्दन, मर्यादा पुरुषोत्तम, करूणा के सागर मय तपस्वी के चरणों में भक्ति पूर्वक प्रणाम करो! जिन्होंने अपने सभी सुखों को मर्यादा हेतु बलिदान दिया है, उनकी चरण धूल माथ करो! हे रघुनन्दन! यह बालक आपके चरणों में नतमस्तक हैं। आप इनके अपराध को क्षमा करें। यह दासी आपके चरणों में हैं इसका प्रणाम स्वीकार करें।" जानकी जी धरती से लेटकर प्रणाम करती है। "जानकी!!!" राघवेन्द्र बस इतना ही तो कह पाये!

"स्वामी! मेरे कारण आपको कितने असह कष्ट हुये। परन्तु आपने सदा दोष स्वयं को दिया। स्वर्ण मृग मैंने मांगा! लक्ष्मण को अपशब्द कहकर मैंने आपके पीछे भेजा। परन्तु आपने और निष्पाप लक्ष्मण ने सदा स्वयं को ही

दोषी कहा! एक बार तो मुझे दोष न दिया। उत्तर में मैं अभागिन आपको क्या दे पाई? लोकनिन्दा! अपयश! जिसे राघवेन्द्र की फूलों की शैय्या होना था वह सदा कांटों की सेज बनी। कांटों पर सोकर भी आपने कभी दोष न दिया! स्वामी!! आप कितने महान हैं!" जानकी जी के नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित है।

"जानकी!! "स्वामी! महान कुल की मर्यादा के अनुरूप यज्ञ को अग्रसर हों! प्रभु! आशीर्वाद दें, विचार बस आप में; एकी भाव से स्थित हो। हर क्षण आप में ध्यानस्थ रहूँ! शरीर धरती में समाया तपस्यालीन हो! मन से आपके चरण निरन्तर धोती रहूँ।"

।।नारायण हरि।।

16

सरयु–प्रवेश

"! लोमभ्यः स्वाहा! ऊ स्वचे स्वाहा!! लोहिताय स्वाहा...मेदोभ्यः स्वाहा...मासेभ्यः स्वाहा...स्नायुभ्यः स्वाहा::::अस्थिभ्यः स्वाहा....."

हे राम! तुम जल रहे हो! रोम जल रहे हैं! त्वचा जल रही है! मेदा, रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा सब कुछ जल रहा है! सर्वांग अग्नियों में शेष हो रहे हो तुम! हे राम! अपनी सम्पूर्ण उपलब्धियों सहित शेष हो रहे हो तुम! सम्पूर्ण अतीत जलकर भस्म हो रहा है। मित्र, स्वजन अपना पराया सब विचार शेष हो रहा है! यह तुम्हारा अन्तकाल है! सारी प्रजा तड़प रही है। बिलख रही है। सभी उस महा–मानव के दर्शन को व्याकुल है। आह! फिर कहाँ देख पावेंगे उसको! प्रत्येक हृदय व्याकुल तड़प रहा है! कराह रहा है। मौन पुकारता, "हे मर्यादा पुरुषोत्तम! हम तुम्हारी मर्यादा को स्वीकारते हैं! तुम नहीं जाओ! नहीं जाओ! हे राम! तुम्हीं से अवध है–बिन तुम्हारे हमारा जीवन निस्सार है–व्यर्थ है–आह! अब क्या हो सकता है! समय तो निकल गया है–अब कुछ नहीं हो सकता–काश! हम अपने प्यारे श्री राम को रोक पाते।

वे विद्वान शास्त्री, जिन्होंने श्री राम की मर्यादा में सन्देह किया था; अपराधी से सिर झुकाये खड़े हैं। बाल्मीकि के संग लव–कुश को लेकर खड़ी तापस जानकी पर दृष्टि पड़ती हैं तो वे फूट–फूट कर रो उठते हैं। कल की साम्राज्ञी। श्री रामचन्द्र की प्राण–बल्लभा! आज मात्र एक तपस्विनी, परित्यक्ता साधारण जन समूह में श्री राम के अन्तिम दर्शन को आतुर–कौन सहन कर पावेगा इस करुण दृश्य को– भोले सुन्दर सुकुमार बालक जो युवराज के सजे होने चाहिए थे। साधारण सूक्ष्म मात्र वस्त्र से तन ढ़के समाज से त्यक्त, अपमानित–समाज द्वारा घोषित अपराधी–रे समाज–बता, उनका अपराध क्यों? श्री राम बल्लभा मात्र एक भिखारिन सी–उनके तेजस्वी पुत्र ओह...ओह!

साधारण प्रजा की भीड़ में खड़ी आतुर, व्याकुल, प्रभु के दर्शन की प्यासी जानकी! उदास, मोहक, सन्तप्त, भोले लव और कुश! कितने खामोश!!

आचार्यो की वाणी बाहर कानो में पड़ रही है। " ! लोमभ्यः स्वाहा!"

जनता का करूण क्रन्दन! नारियाँ अचेत हैं। महामानव अन्तिम यात्रा को चल दिया है। जानकी सर्वांग सिहर उठी हैं। भोली उदास डबडबाई आँखों से बालक अपनी माता को देखते! कितनी मर्मान्तक पीड़ा है! अन्तिम यात्रा पर पिता जा रहे हैं जिनका स्पर्श भी अभागे पुत्र न पा सके हैं। उपेक्षित, त्यक्त चिता की अग्नि देने के अधिकार से विहीन! मात्र मूक दर्शक! साधारण भीड़ में खड़े हुये!

श्वेत वस्त्र में लिपटे नीलाभ–मणियों की सी सुन्दर कान्ति के स्वामी श्री रामचन्द्र बाहर आये हैं। कुहराम मच गया है। पुष्पों से, सरयु में तिरोहित होने चल दिये हैं। आसुओं से भींगी, बरसती, असंख्यों आंखो, उनके अन्तिम दर्शन को उन पर स्थिर हो गई है। जा रहे हो महामानव! अन्तिम यात्रा पर! वीर पुरुष! तुमने स्वयं को समाज पर नहीं थोपा परन्तु असत्य, अन्याय के सम्मुख झुके भी नहीं! समाज ने तुम्हारी मर्यादा नहीं स्वीकारी! तुमने समाज के निर्णय को शिरोधार्य किया और अपनी महान मर्यादाओं के साथ समाज को त्याग चले! हे राम! फिर कभी होगा कोई ऐसा राम! नेत्र स्थिर हैं! देखकर भी मात्र एक ब्रह्म को देखते हुए! एको ब्रह्म....आचार्यो से घिरे वे निरन्तर सरयु के तट की ओर बढते जा रहे हैं। भरत, लक्ष्मण, शत्रुध्न! बच्चों की तरह फूट–फूट कर रो रहे हैं। कितने अचेत होकर गिर पड़े हैं। भीड़ में मिली जानकी ने, पुत्रों सहित दण्डवत प्रणाम किया है। नारी मात्र की पीड़ाओं को जानने वाला फिर कभी ऐसा होगा कोई?

श्वेत वस्त्र से लिपटी देह जल की धाराओं में प्रवेश कर गई है। आचार्यो ने, निरन्तर वेद मन्त्रों का उच्चारण करते हुये, श्वेत को थाम लिया है। वस्त्र खुलने लगा है। निर्वस्त्र देह जल की धाराओं में समा गई है। श्री राम सरयु समाते हैं। भक्त मात्र के प्राण! श्री राम जल की धाराओं में विलीन हो जाते हैं।

आचार्य वस्त्र लेकर लौट रहे हैं। वे श्री भरत जी के सम्मुख वस्त्र लेकर खड़े हैं। मानो पूछ रहे हों इस वस्त्र को लेगा कौन? क्या जानकी, परित्यक्ता? पीड़ायें जन के हृदय को विदीर्ण कर गई हैं करुण विलाप के अतिरिक्त कुछ सुनाई नहीं देता है।

"भैया! मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम हमसे विदा हो गये! अब आप निर्णय

दें?" लक्ष्मण जी कहते हैं! श्री भरत चौकते हैं! आचार्यो के हाथ में पकड़े वस्त्र को देखते हैं। भीड़ में खड़ी जानकी की ओर लपकते हैं।

"माँ! आप आगे बढ़े! वस्त्र ग्रहण करें"

श्री भरत उनसे कहते हैं उनके नेत्रों से अविरल जल की धारायें प्रवाहित हैं।

"मैं———क्या कहा? क्या एक परित्यक्ता....."

जानकी जी मूर्छित होकर गिर पड़ी हैं। विलाप और चीखों से वातावरण द्रवित हो रहा है। भरत जी शीघ्र उन पर झुकते हैं। लक्ष्मण जी एवं शत्रुघ्न उनके साथ जल के छींटे दे रहे हैं। लक्ष्मण जी जानकी के पांव मल रहे हैं। धीरे–धीरे मां जानकी की सुधि होती है।

माँ! अब तो आप ऐसा न ही कहें! श्री राम द्वारा हम सब ही तो परित्यक्त हो गये–अब आप हम अभागों के सिर पर हाथ रखें! हमारे पापों को क्षमा करें। आपसे भी परित्यक्त होकर हम एक क्षण भी न जी पावेंगे। हा!! राम हमें त्याग गये! मां! आप दया करें!"

भरत जी फूट–फूट कर रो रहे हैं। कौन है जो स्थिर है? न कोई! वे सारे शास्त्री और विद्वान जानकी के सम्मुख दण्डवत भूमि पर पड़े हैं। मानों कह रहे हों मर्यादा पुरुषोत्तम ही सत्य थे! हमारे अपराध क्षमा करो, माँ!

जानकी जी भयभीत हैं। वे आचार्यो की ओर देखती हैं। मानो पूंछ रही हों कि क्या एक परित्यक्ता वस्त्र ग्रहण करने की अधिकारिणी है। भय, विषाद, संकोच और अनिर्णय का मिला भाव उनके मुख मण्डल पर स्पष्ट है।

"माँ! आप ही वस्त्र ग्रहण करने की अधिकारिणी हैं। वेद एवं शास्त्रों का यही मत है।" वे कहते हैं।

जानकी जी वस्त्र ग्रहण करती हैं। उर्मिला, माण्डवी तथा श्रुतिकीर्ति जी उनको घेर लेती है। जानकी मौन, एक टक जल धाराओं को देखती हैं जिनमें उनका सर्वस्व लोप हो चुका है। फिर वे यज्ञ कुटी में जाती है जहाँ बल्कल वस्त्र त्याग कर श्वेतवस्त्र (जो सात्विकता का प्रतीक) धारण करती हैं। उपरान्त आचार्य पुने यज्ञ शाला में आते हैं। वेदोच्चारण द्वारा जानकी जी द्वारा यज्ञ सम्पादित होता हैं वे धरती में समाने को तैयार होती हैं। प्रजा एकबार फिर तड़प उठती है! जानकी! तूने क्या पाया? चौदह वर्ष का

वनवास लंका की घोर यातनायें! पुनः परित्यक्ता, तापस वल्कलधारी जीवन! और अब! सभी सुखों से शून्य होकर जा रही है धरती समाने! जानकी! इस निष्ठुर समाज ने तुझे क्या दिया। अब तू धरती के भीतर गुफा में, सभी सुखों का त्याग कर मात्र तपस्या करेगी अपने बालको को भी तो .....बेचारे लव–कुश! पिता गये! मातृ सुख से विहीन हो गये! मर्यादा की बलि वेदी पर....जानकी जी बाहर आई हैं। लव–कुश दूर उदास खड़े देख रहे हैं। महर्षि बाल्मीकि उनके साथ हैं। जानकी जी सरयु के तट पर आती हैं। माँ सरयु की पूजा करती है। पुष्पांजलि अर्पित करती हैं आंसुओं से भींगी हुई! सरयु शान्त हैं। स्थिर है! कैसा रहस्य मयी मौन है।

जानकी जी, मांडवी, उर्मिला और श्रुतिकीर्ति के साथ जा रही है। लक्ष्मण जी के धैर्य के बांध टूट गये हैं। लव और कुश को सीने से भींचकर पागलों की तरह वे कभी सरयु को और कभी ओझल होती जानकी को देख रहे हैं ढाहें मारकर रोते हुये।

।।नारायण हरि।।

ऋग्वेद के ऋषि ! मेधातिथिः काण्वः !

ऋग्वेद प्रथम मंडल के दूसरे ऋषि हैं मेधातिथिः काण्वः। मेधातिथिः काण्वः की माता का नाम देवहूति तथा पिता का नाम महर्षि कर्दम है। महर्षि कर्दम महाविष्णु के श्वसुर हैं। महालक्ष्मी के पिता के रूप में सर्वत्र जाने जाते हैं। क्षीरसागर मंथन के समय महालक्ष्मी जी मंथन द्वारा प्रकट हुई तथा महाविष्णु की पत्नी के रूप में सुशोभित हुईं। इस प्रकार ऋषि मेधातिथि उनके भ्राता के रूप में जाने जाते हैं। पौराणिक कथाओं में इसकी चर्चा हैं।

अमरकोष तथा संस्कृत भाषा के लगभग सभी शब्दकोशों में कर्दम शब्द का अर्थ कीचड़ के रूप में हुआ है। जब जब कीचड़ में देवत्व की आहूति होती है, जीवन रूपी लक्ष्मी प्रकट हो जाती है। यज्ञ में अर्पित आहूति ही, देवाहूति है। कीचड़ से जीवन यज्ञाहूतियों द्वारा जीवन्त वनस्पतियों में तथा वनस्पतियों से नाना जीवधारियों की देहों में जीवन्त होकर धरा को वसुन्धरा बनाता, सचराचर को लक्ष्मी से परिपूर्ण एवं वरद करता है। कीचड़ में जीवन तन्तुओं को खोजने की गुरूकुल शिक्षा की कल्पना, स्वयं में विलक्षण अदभुत एवं इकलौती है। सचराचर की चेष्टाओं, धड़कनों में अपने होने के कारण खोजने की मानवीय जिज्ञासा और तड़प का अनूठा दर्शन है।

मेधा में बनकर आया अतिथि है जो, ऋषि **मेधातिथिः** है वह। पिता उसका कर्दम है तथा माता उसकी देवाहूति है। अतिशय निर्मल करने वाला है। इसीलिये नाम के आगे 'काण्व' लगा है। **मेधातिथिः काण्वः।** मेधा अर्थात बुद्धि के आतिथ्य में आकर काण्व अर्थात अतिशय निर्मल करने वाला। काण्व एक वृक्ष का नाम है। जिसका आधुनिक नाम निर्मली है। तालाबों तथा कीचड़ के स्थलों पर यह वृक्ष उगता है। इसके फलों के रस के लेपन से पात्रा में रखा जल पवित्र और निर्मल हो जाता है।

गुरूकुल शिक्षा में छात्र के सम्पूर्ण जीवन को, शिक्षा के सूत्रों के रूप में ग्रहण किया गया था। यज्ञोपवीत के तीन सूत्र, शिक्षा के प्रमुख सूत्र माने गये। इसका विस्तार स्वरूप वर्णन हमने ऋग्वेद प्रथम मन्डल के प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा में पाया है। प्रथम सूत्र, सुधि सन्कल्प है उन रहस्यों को जानने का, जिसके द्वारा चिता की भस्मी, यज्ञों द्वारा पुनः वनस्पतियों के रूप में जन्म ग्रहण करती है। मृत शरीर पुनः आवागमन को प्राप्त होता है। दूसरा सूत्र, सुधि संकल्प है, उन रहस्यों को जानने का, जिनके द्वारा वनस्पतियां यज्ञ द्वारा, शिशु का रूप ग्रहण करती हैं। तीसरा सूत्र, सुधि संकल्प है, निज शरीर को, आत्मा श्रीहरि की धरोहर मानकर, निमित्त भाव से धारण करना।

यज्ञ को गुरूकुल शिक्षा में सर्वोपरि स्थान प्रदान किया गया है। **'य'** से 'उत्पत्ति' तथा **'ज्ञ'** से ज्ञान अथवा ज्ञात होना। सचराचर की उत्पत्ति यज्ञ के द्वारा होती है। उत्पत्ति की सम्पूर्ण प्रकिया को ही यज्ञ की संज्ञा प्रदान की गयी। आत्मा, यज्ञ का अधिष्ठित देव अर्थात मुख्य आचार्य है। प्राणवायु, यज्ञ का उपाचार्य है। ब्रम्हज्वाला, आत्माग्नि, ही यज्ञ की अग्नि है। तन, प्रकृति, ही यज्ञ की सामिग्री एवं समिधा है। जीव इस यज्ञ में यजमान है। पूर्व ऋषि में इसकी चर्चा विस्तार से हुई है। कालान्तर में यज्ञों के रहस्यों के लुप्त हो जाने के कारण, वाहय कृत्यों मात्र को ही यज्ञ मान लिया गया।

वेद एवं श्रुतियों के अनुसार पृथ्वी पर जीवन का अवतरण हुआ था। समय एवं काल की सही गणना कर पाना, अब दुष्कर है। जल भी पृथ्वी पर अवतरण द्वारा लाया गया था। आश्चर्य की बात है, कि जितने ग्रहों का हम अवलोकन कर पाये हैं, हमें जल का दर्शन कहीं नहीं हुआ है। फिर पृथ्वी पर जल आया कैसे ? इसकी चर्चा हमें गंगावतरण में मिलती है। श्रीमद्भगवद्गीता में, जल की उत्पत्ति यज्ञ से उत्पन्न होने की चर्चा है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि जल की भांति ही, हमें जीवन भी किसी ग्रह पर नहीं मिला है। इसे मात्र संयोग मानना, हमारी भारी भूल भी हो सकती है।

ऋग्वेद के प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा के सूक्त, अर्थ सहित, ज्योतिर्वेद के विभिन्न सोपान, नामक शोध उपन्यासों की धारा में पढ़ चुके हैं।(इसका

विस्तार {"**ज्योतिर्वेद के विभिन्न सोपान** भाग–1, भाग–2 तथा भाग–3" का गहन अवलोकन करने से वेदों के रहस्य सहज ही सरल सुलभ हो सकते हैं। यह तीनों ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।)

इसी धारा में, हम उनके उपरान्त, ऋग्वेद के दूसरे ऋषि मेधातिथिः काण्वः के सूक्तों को अर्थ सहित जानने का प्रयास करेंगे। संन्यास के समय व्यक्ति का अतीत भस्म हो जाता है। संन्यास, उसका नया जन्म होता है। पुरानी पहचान, नाम, गोत्र आदि समाप्त हो जाते हैं। भावप्रधान सम्बोधन ही रह जाता है। इसलिये दूसरे ऋषि का नाम भाव प्रधान है – मेधातिथिः काण्वः ! मेधा, अर्थात विवेक बुद्धि, में अतिथि बनकर आया है। काण्व है, अर्थात अतिशय निर्मल करने वाला है।

यज्ञ के नाम से साधारणतया एक ही कल्पना हमारे मन में उभरती है। एक यज्ञकुण्ड, समिधायें, हवन सामिग्री, यजमान, आचार्य, उपाचार्य, जल तथा पूजा की सामिग्री, मन्त्रोच्चार, आहुतियां और कुछ ऐसा ही। इसमें कुछ असत्य भी नहीं है। यज्ञ का बाह्य आडम्बर, निसन्देह ऐसा ही है। परन्तु यज्ञ का आन्तरिक स्वरूप, इससे मिलता जुलता सा परन्तु बहुत कुछ और भी है।

आप किसी भी व्यक्ति को उसके वाह्य आडम्बर से ही पहचानते हैं। यही उसकी पहचान भी है। अमुक नाम, पता, गोत्र, जाति, कुल परिवार, रंग, रूप, कद काठी आदि। इसी सब से ही उसका परिचय मिलता है। इन्हीं से वह पहचाना जाता है। वाह्य रूप से उसका यह परिचय भले हो, परन्तु, आप यह तो नहीं भूल सकते कि उसका सही अस्तित्व, उसके वाह्य आडम्बर भर से नहीं, वरन उसकी आत्मा से है। आत्मा के न रहने पर, यह सब बने भी रहें, तो भी उसका परिचय नहीं बन पाते। उसका नाम भी लुप्त हो जाता है।" अमुक व्यक्ति की मिट्टी जा रही है।" लोग ऐसा कहकर ही परिचय देते हैं। आत्मा के हटते ही परिचय भी, वर्तमान से अतीत हो जाते हैं।

इसी प्रकार, यज्ञ की भी एक अमर आत्मा है। वाह्य आडम्बर शरीर भर ही पहचान है। मूल पहचान, यज्ञ की भी, यज्ञ की आत्मा से है। इसकी विस्तृत चर्चा, " ज्योतिर्वेद के विभिन्न सोपान " ग्रन्थ के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय खण्ड में हम विस्तार से कर चुके हैं। यहां पर हम

ऋग्वेद, प्रथम मण्डल के द्वितीय ऋषि, मेधातिथिः काण्वःके अमृत ज्ञान का अर्थ सहित विस्तार करेंगे। यज्ञ की आत्मा से परिचित होंगे। सूक्त 12 से आरम्भ होकर सूक्त 23 के समापन तक का विस्तार मेधातिथिः काण्वः ऋषि का है। प्रत्येक सूक्त के आरम्भ में ऋषि का नाम तथा छन्द, व्याकरण आदि की व्याख्या तथा कुछ खड़ी, कुछ लेटी रेखायें ऋचा के साथ अंकित रहती हैं। इनका विस्तार गायन के हित में किया जाता है। स्व, दीर्घ और प्लुत इनकी संज्ञा है। ग्रन्थ की समरसता तथा भाष्य को सरल रखने के लिये हम इन्हें ग्रहण नहीं करेंगे। यह हमारे वर्तमान उद्देश्य में भी नहीं हैं। इसके अलावा इनके साथ पात्रता की मर्यादा भी जुड़ी हुई है। वेद की ऋचाओं के सम्पूर्ण भाष्य अमरकोश, निरूक्त, निघन्टु तथा सारस्वत व्याकरण सम्मत हैं। पाणिनि व्याकरण का वेद में कोई उपयोग नहीं है। पुनः इनके शब्दार्थ किसी भी संस्कृत शब्दकोश में खोजने पर मिल जावेंगे। इन्हें विधिवत गुरूमुख होकर ही ग्रहण करने की परम्परा है। आरम्भ करें :–

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्।। 1/1।।

अग्निम् अंग अंग में ऊष्मा बन कर विराजने से अग्नि तथा **दूतम्** यज्ञ के प्रतिनिधि के रूप में सर्वत्र यज्ञों द्वारा सृष्टि का प्रतिनिधित्व करने के कारण दूत के रूप में स्थापित, यज्ञाग्नि का हम सब **वृणीमहे** (वृणीम् +अहे) वरण करें, अहो ! **होतारम** न्यौछावर कर रही हैं जो यज्ञों के द्वारा **विश्व** (वि = विगत, विशिष्ट, दोनों अर्थों में, +श्व = मृत) क्षणभंगुर जगत को पुनः मृत्यु से जीवन्त करने वाली तथा **वेद** आत्मज्ञान की ज्योतियों से **सम्** संयुक्त करने वाली हैं। **अस्य** ऐसी महान अग्नियों का हम सब **यज्ञस्य** यज्ञ के लिये आवाहन करें तथा **सुक्रतुम्** उनके दिव्य आलौकिक कृत्यों के ज्ञान को प्राप्त हों।

ऋचाओं के सही अर्थों को पाने के लिये हमें इनकी आत्मा को खोजना होगा। वाह्य यज्ञ को हम भली प्रकार से जानते हैं। अब आत्मा को खोजने के लिये, हमें अपनी आत्मा में प्रवेश पाना होगा। यज्ञ का अधिष्ठित देव, आत्मा ही है। यही यज्ञ का आचार्य है। प्राणवायु ही इसके साथ, यज्ञ का उपाचार्य है। ब्रह्माग्नि ही यज्ञ की ज्वाला है। तन,

हवन सामिग्री है, जीवन के कर्म समिधा हैं। जीवन के प्रत्येक क्षण, घृत के समान हैं। जीव स्वरूप, हम सब इस यज्ञ में यजमान है। उपरोक्त ऋचा में प्रत्यक्ष रूप में वाह्य यज्ञ का संचार है। परोक्ष रूप में आत्म यज्ञ की दुहाई है। इसे विस्तार से हम, मधुच्छन्दा ऋषि में पढ़ आये हैं।

चलें आत्म जगत की ओर ! ब्रह्माग्नियों, आत्म ज्वालाओं का चिन्तन करें, झांके अपने भीतर ! खोज करें, जीवन के सूत्राों की ! यज्ञों का प्रतिनिधित्व करने वाली, रोम रोम अंगों को जीवित करने तथा जीवन ऊष्मा से वरद करने वाली, ज्योतियों का ध्यान करें ! चहुं ओर जीवन को यज्ञों द्वारा प्रकट कर, जीवन की जगमग से चमत्कृत करने वाले उनके दिव्य कृत्यों का ध्यान करें। अहो ! वरण करें उन महान रश्मियों का ! जिनकी कृपा, दया ही जीवन है, हमारा ! जिनसे, हम हैं और है, जग सारा।

एक झरोखा, खुल गया है भीतर हमारे ! झकझोर के रख दिया है, सम्पूर्ण व्यक्तित्व हमारा ! माता पिता, निमित्तमात्र पात्र भर बनकर रह गये हैं। हलवाई आत्मा बना है। सचराचर सामिग्री है। हम बनते हैं यज्ञ की अग्नियों के गर्भ में ! माता तन का कोश बनाना भी नहीं जानती, पिता भी नहीं बना सकता एक अंग भी? फिर मुझे बनाया किसने ? जिलाया और सजाया किसने ? माता को दूध से वरद किया किसने? किसने बनकर शबरी का राम, मेरे जूठे भोजन को, रक्त, मांस, मज्जा में और मेरे नवजात शिशु के रूप में उत्पन्न किया ? कौन उसके तन में भोजन को ऊर्जा और शक्ति में भरता है ? शिशु, स्वयं तो कर सकता नहीं ! मुझे भी आता नहीं ! फिर करता कौन? अग्नि! दूत है, जीवन यज्ञों का ! उसका करें वरण ! वहीं खुलेंगे, जीवन के सूत्र! वही करता है न्यौछावर, जीवन के अमृत क्षणों का ! वही देता है, बुद्धि, ज्ञान और विज्ञान ! जानता है, जीवन के रहस्य ! वही दे सकता, यज्ञ का ज्ञान और सामर्थ्य ।

अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम्।
हव्यवाहं पुरूप्रियम्।।1/2।।

अग्निम् अग्नि में, **अग्निम्** अग्नि बन, **हवीमभिः** (हवीम् + अभिः) यज्ञ में व्याप्त होता रहे, बन सामिग्री, बनके सांकल्य, **सदा** नित्य निरन्तर **हवन्त** यज्ञ होता रहे, **विश्पतिम** ('विश्वपतिम्' पाठ भेद) सचराचर के अधिपति, परमात्मा में। वे ही हैं **हव्यवाहं** सांकल्य एवं सामिग्री के वहन, धारण एवं उत्पन्न करने वाले, बनाने तथा पुनरूद्धार करने वाले, वे आत्मा ही हव्यवाहम् हैं, वे ही यज्ञ पुरूष हैं तथा वे ही जगत के **पुरूप्रियम** सब प्रकार से सचराचर का प्रिय करने वाले हैं।

लपट लपट सब जलता रहे, सदा यज्ञ में व्याप्त रहें। सम्मुख रहें आत्म यज्ञ के, सदा अर्पित करें आत्मा को, बनकर सामिग्री और समिधा। जीवन का प्रत्येक क्षण, कर्म और विचार, सबकुछ, आत्म यज्ञ में अर्पित हो। वे हव्यवाह, देते जीवन के अमृत क्षण, करते प्रिय सचराचर का। उनके क्षण, उन्हें ही अर्पण हों। सदा आत्मा के निमित्त, आत्मा के सम्मुख, आत्मा में ही सर्वस्व अर्पित होता रहे। सदा सर्वप्रिय का सम्मुख बना रहे।

विश्ववेदसम् अर्थात विश्व तथा विश्व के दस परिगणित। इसकी व्याख्या इस प्रकार है :–

विश्व = विशति स्वकारणम्, विश् + क्वन्। चौदह भवनों का समूह, समस्त ब्रह्माण्ड। दस परिगणित इस प्रकार हैं :–

1. वसु – ऐश्वर्य, अग्नि, ज्योति।
2. सत्य – प्रकृति एवं निष्ठा।
3. ऋतु – नित्य, अटल नियमन।
4. काल – समय की गति के अनुरूप।
5. काम – कामना, इच्छा, कर्म।
6. दक्ष – सावधान, चतुर, मन।
7. भृति – धारण करने की भावना।
8. कुरू – आत्माद्वैत, यज्ञ।
9. पुरूरवा – सृष्टि, पुनर्जन्म।
10. भाद्रवा – ज्ञान, भक्ति, समर्पण एवं तड़प।

इनमें छिपे हैं जीवन के गूढ़ार्थ ! इन्हें जानना पहचानना और धारण करना है।

अग्ने देवाँ इहा वह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे।
असि होता न ईड्यः।। 1/3।।

अग्न हे अग्ने (आत्माग्नि, यज्ञाग्नि, ब्रह्मज्वाला) हे **देवाम** देवत्व को प्रदान करने में समर्थ, हे देव ! **इहा** जीवन जगत (इहलीला, जीवन लीला) को **वह** वहन, धारण करने वाले, **जज्ञानो** यज्ञों के द्वारा, **वृक्तबर्हिषे** पवित्र एवं नित्य सृष्टि को करने वाले। **असि** अर्पित होता, तुममें जल जाता, व्याप्त होता, रूप को मिटा जाता है, सामिग्री बन यज्ञ की ज्वाला में, **होता** न्यौछावर होता है, नहीं **"न"** करता मृत्यु का वरण, होकर **ईड्यः** अद्वैत, वन्दन, चिन्तन, अमर वरण द्वारा।

कस्तूरी कुण्डली बसे, मृग ढूंड़े बन मांही ! विज्ञान, जीवन के रहस्यों को खोजता रहा, अपने से बाहर ! वेद के ऋषि उसे वहीं खोजने गये, जहां वह प्रकट करता नूतन सृष्टि ! खोज एक ही है। दिशायें अलग अलग हैं। आत्मा, शरीर में निरन्तर कर रहा, जीवन के अमृत क्षणों की सृष्टि ! उत्तर तो वहीं मिलेगा, जहां होती निबार्ध, निरन्तर सृष्टि !

हे यज्ञ ! हे अग्ने ! हे देव ! सम्पूर्ण जड़, चेतन, सचराचर को यज्ञों के द्वारा निरन्तर जीवन्त करने वाले ! जो अद्वैत करता आपसे, यज्ञ में अर्पित करता स्वयं को, वही पाता अमर पद ! आवागमन से मुक्ति !

जीवन एक योनि भर ही नहीं है। स्वयं से प्रश्न करें ! क्या इस जन्म से पहले तुम नहीं थे ? किसी भी योनि में, अथवा किसी भी रूप में ? थे न ! क्या यह तुम्हारा अंतिम जन्म है ? तुम आगे भी तो जन्म ले सकते हो, लेते ही रहे हो ? तब वर्तमान जन्म ही जीवन की परिभाषा कैसे हो सकता है ? जीवन तो योनि दर योनि की निरन्तर यात्रा का नाम है। जीवात्मा एक यात्री है अनन्त की राह पर ! जहां योनि मात्र क्षणिक पड़ाव है। पड़ाव से यात्री की पहचान अथवा परिचय नहीं होता। यात्री का परिचय उसकी सम्पूर्ण यात्रा, गति एवं गन्तव्य सहित होती है। हमारी पहचान क्या हो ?

ताँ उशतो वि बोधय यदग्ने यासि दूत्यम्।
देवैरा सत्सि बर्हिषि।। 1/4।।

हे यज्ञ ! **ताँ** (त्वम्) आप **उशतो** कामनाओं एवं श्रेष्ठ आचरण का **वि** विशिष्ट **बोधय** ज्ञान कराते हैं, **यदग्ने** (यत् अग्ने) जिसके हे अग्ने!

यासि स्वयं में मिटा कर, सामिग्रीवत भस्म करके **दूत्यम्** प्रतिनिधित्व करते द्वैत से अद्वैत कर लेते हैं। **देवैरा** देवत्व की राह, आत्मा की राह में, मोक्ष की ओर, **सत्सि** सत्य से सींचा हुआ, आत्मज्योतियों से संयुक्त होकर जाता **बर्हिषि** यज्ञ के गर्भकुण्ड में, अमर राह पर।

उश, उशी का अर्थ अभिलाषा अथवा कामना है। उशनस, उशनन आचार्य शुक्र के नामान्तर कहे गये हैं। आचार्य का शाब्दिक अर्थ भी श्रेष्ठ आचरण को देने वाले के रूप में किया गया है। जो वाह्य जीवन को सुसंस्कृत करे, भौतिक रूप से सद् आचरण प्रदान करे, भौतिक कामनाओं एवं इच्छा, अभिलाषाओं की पूर्ति के योग्य बनाये, आचार्य कहलाता है। गुरू, इससे हटकर, आत्मा से अद्वैत कराने वाले को कहते हैं।

यासि अथवा असि शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में बारम्बार हुआ है। असि का शाब्दिक अर्थ – मारना, कटार से काटना, किये जाने से भ्रमवश, बलि प्रथा को बल मिला। जबकि यज्ञ में सामिग्री को अर्पित करने को असि कहा गया है। सामिग्री के समर्पित होकर यज्ञ की ज्वालाओं में जल जाने की अवस्था का नाम असि है।

बर्हिष अथवा बर्हिषि उस स्थान को कहते हैं, जो यज्ञकुण्ड के मध्य में, गहराई में, गर्भ ग्रह के रूप में बनाया जाता था। वाह्य यज्ञ में, यज्ञ से पूर्व, इसमें खीर अथवा भोज्य सामिग्री, औषधि, सुगन्ध आदि के सहित, यज्ञ से पूर्व ही रख दी जाती थी। यज्ञ के उपरान्त, इसको निकाल कर यज्ञ के प्रसाद अथवा फल के रूप में वितरण करते थे। यह मूल आत्मा के यज्ञ के अनुरूप ही है। शरीर ही यज्ञशाला है। आत्मा यज्ञ का अधिष्ठित देव, आचार्य है। प्राणवायु यज्ञ का उपाचार्य, अच्छावाक है। भोजन, हवन की सामिग्री है। जीव ही यज्ञ का यजमान है। ज्वालाओं का गर्भ गृह, बर्हिष कहलाता है। इसी गर्भ से जीवन का प्रत्येक क्षण, विचार, चेतना, शक्ति, ऊर्जा आदि यज्ञ होकर जीव को प्राप्त होता है। नवजात शिशु, शुक्राणु अथवा अण्डकोश भी, इसी यज्ञ के द्वारा जीव रूपी यजमान को यज्ञ के द्वारा प्राप्त होते हैं।

वस्तुतः, वाह्य यज्ञ, मूल आत्मा रूपी जीवन यज्ञ का प्रतीक स्वरूप है। गुरूकुल शिक्षा में, छात्र को जीवन के सूक्ष्म रहस्य पढ़ाने के लिये

ही वाह्य यज्ञ का प्रतीक माध्यम लिया जाता था। जो पूर्व के ऋषि तथा वर्तमान ऋषि की ऋचाओं में स्वतः सहज स्पष्ट हो रहा है।

उनको, तुम हे यज्ञ ! सम्पूर्ण कामनाओं, इच्छाओं की पूर्ति प्रदान कर, श्रेष्ठ ज्ञान बोध एवं उत्तम आचरण से तो वरद करते ही हो, जो अर्पित होकर मिटा देते, अपने अस्तित्व, तुममें । एकाकर, अद्वैत हो, मिट जाते तुममें ! पाते अनन्त की राह । अमरपद !

घृताहवन दीदिवः प्रति ष्म रिषतो दह।
अग्ने त्वं रक्षस्विनः।। 1/5।।

घृताहवन घी एवं सामिग्री से जिसप्रकार वाह्य यज्ञ में हवन किया। **प्रति** उसी प्रकार आत्म यज्ञ के, उसके अनुरूप ही **ष्म** क्षुधा के शमन हेतु भोजन के रूप में, यथा सामिग्री को आत्मज्वालाओं में **रिषतो** भस्म किया। वे भी आत्मज्वालाओं में **दह** दहन होकर जगमग ज्योतियों में **दीदिवः** टिमटिमाने लगीं। सामिग्री यज्ञ हो ज्योति बन गयी। **अग्न** हे अग्ने ! **त्वं** तुम ही हो **रक्षस्वि** विशिष्ट रक्षक (रक्षः+वि। वेद में सन्धियां उलटी भी कहीं कहीं लगती हैं।) **नः** हमारे।

जीवन, यज्ञ से उत्पन्न होता है। जीवन, यज्ञ के द्वारा ही प्रति क्षण पलता, जीवन यात्रा को निरन्तर, आत्मज्वालाओं में भोजन को, हवन की भांति ही यज्ञ करके, पुष्ट एवं ज्योतिर्मय हो पाता है। उसी प्रकार ग्रह और नक्षत्र, पृथ्वी आदि, ऐसे ही यज्ञ से गगन में ज्योतिर्मय होकर स्थित हो जगमगाते हैं। यह सब यज्ञ की अग्निओं के द्वारा ही सम्भव है।

गुरूकुल शिक्षा में वाह्य यज्ञ को प्रतीक के रूप में ग्रहण करते हुए, छात्र को सचराचर की सृष्टि के अबूझ रहस्य पढ़ाने की अद्भुत पद्धति, हमें वेद में मिलती है। जैसे भोजन; घी एवं अन्नादिक द्वारा बना हुआ भोजन, हमारे शरीर में, आत्मज्वालाओं में, आकर भस्म हुआ, क्षुधा की तृप्ति के साथ ही, शक्ति एवं ऊर्जा का संचार हुआ। शरीर पुष्ट एवं सशक्त हुआ। यह सब यज्ञ के द्वारा ही सम्भव हो सका। उसी प्रकार, ऐसे ही घी सामिग्री के हवन से यज्ञ होकर अन्न, नवजात शिशु के शरीर में ढलने पलने लगा था। जिस कारण, वे जन्म और जीवन पाये। ऐसे ही, अनन्त क्षीरसागर में, ब्रह्मबिन्दुओं से ब्रह्माण्डों की सृष्टि यज्ञ के द्वारा होती है। यज्ञ की अग्नियां ही सचराचर की सृष्टा एवं रक्षक हैं।

जिस यज्ञ के द्वारा, बालक सृष्टि के विज्ञान को, अपनी सोच, समझ एवं मानसिकता के अनुरूप, सरल एवं सहज, सरस भाव में पढ़ जाते थे, क्या अब तथाकथित पढ़े लिखे, समझदार व्यक्ति के लिये भी सम्भव है ? अब तो आप अन्ध आस्था, तथाकथित भक्ति, लोभ और अतृप्तियों की पूर्ति के हित में ही, इसे साधन के रूप में करना भर जानते हैं। आपके पूर्वज, गुरूकुल में, इन्हीं यज्ञों के ज्ञान के द्वारा, जीवन रहस्यों को पाकर, अपने अधिक समीप होते, एक सार्थक जीवन, अखण्ड जागृत आस्था एवं भक्ति से सम्पूर्ण, आत्मा से जुड़ा जीवन जीते थे। क्या अब सम्भव है ?

अग्निनाग्निः समिध्यते कवि र्गृहपतिर्युवा।
हव्यवाड् जुह्वास्यः।। 1/6।।

अग्निनाग्निः(अग्नि + अग्निः) अग्नियों को अग्नियों में **समिध्यते** समिधावत अर्पित, समाधिस्थ करते हुए **कवि** आत्मा, **गृहपति** शरीर का स्वामी (शरीर ही मूल रूप में जीव का घर है, जिसका स्वामी, अधिष्ठाता, आत्मा है। जीव के हित में, शरीर रूपी घर को निरन्तर बनाता तथा रक्षा करता है।) नित्यपुरूष **युवा** तथा अमर है। **हव्यवाड** हवन की अग्नियों में सामिग्री को स्नान प्रदान कर, ज्योतियों में नहलाकर, अमृत स्नान प्रदान करके, **जुह्वास्यः** अनन्त ज्योतियों में अमर स्थित करने वाला है। आवागमन से मुक्त करने वाला है।

आत्मा ही इस शरीर को, माता एवं पिता रूपी पात्रों (बरतनों) में, यज्ञ की अग्नियों के संयोग से, यज्ञ के द्वारा, शिशु रूप में लाया है। माता अथवा पिता, इस यज्ञ के निमित्त हैं। सामिग्रीयों को अग्नियों में यज्ञ कर, आत्मा ही उसे शिशु रूप में उत्पन्न करने में समर्थ है। आत्मा ही इस शरीर का नित्य स्वामी, अधिष्ठाता है। आत्मा के सहयोग से ही जीव, शरीर रूपी घर में सुखपूर्वक रहता है। अमर आत्मा ही समर्थ है, जीव को अमर पद प्रदान करने में। आत्मा के संयोग, सहयोग से जीव, आवागमन से मुक्त हो सकता है। जो नित्य अमर आत्मा, जीव को, इस शरीर रूपी घर में लाया है, वही उसे अमर बनाने में समर्थ है।

सनातन धर्म; किसी भी प्रकार की व्यक्ति पूजा में विश्वास नहीं करता है। केवल आत्मा की पूजा का ही विधान है। श्रीरामचन्द्र अथवा श्रीकृष्ण

की पूजा, किसी व्यक्ति के रूप में नहीं, घटघट वासी आत्मा के रूप में ही है। सनातन शब्द का अर्थ है – नित्य, अमर, अविनाशी, घटघटवासी आत्मा। इसप्रकार, आत्मा के धर्म का नाम ही सनातन धर्म है। यह जीवमात्र का धर्म है। इसे मनुष्य मात्र का धर्म समझना, भारी भूल होगी। प्रकृति को ही इसका मूल धर्मग्रन्थ माना गया है। आत्मा ही लेखक है। वेद भी इसी धर्म के अनुयायी हैं। तर्कशास्त्र इसकी उपलब्धि ा है। सत्य और ईश्वर को तर्क की कसौटी पर खरा उतरना ही होगा। तर्क अर्थात ज़िरह करना, सन्देह अथवा शक, शुबह करना, मनुष्य मात्र का ध र्मसिद्ध अधिकार है। इसमें कोई पाप नहीं है। सत्य को तर्क की कसौटी पर सिद्ध किये बिना, कोई भी आस्था, अन्धी ही होगी। आस्था को स्पष्ट करके ही, भक्ति को अटल बनाना उचित है। यही सनातन धर्म का अटल मत है। यही वेद का मार्ग है। अन्धा धृतराष्ट्र, अपनी अन्धता के कारण कुल सहित, विनाश को प्राप्त होता है।

कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे।
देवममीवचातनम्।। 1/7।।

कविम् आत्मा की **अग्निम** अग्नियों में **उप** व्याप्त होकर **स्तुहि** स्तुति, वन्दन करें तथा स्वयं को वन्दनीय जीवन की राह दे, जीवन को स्तुत्य एवं वन्दनीय कर, **सत्य** प्रकृति के सत्य **धर्माणम्** धर्म को धारण करें, यही **अध्वरे** अमर राह है। प्रकृति और पुरूष की हम प्रतिकृति, अनुकृति हैं। उन्हीं का अनुसरण कर। **देवम** देवत्व में, आत्मा की राह में, **अमीवचातनम्** हिंसा, मृत्यु की बारम्बार वेदना, पाप और भटकावों से निर्मल हों तथा उपराम हों। अमर आत्मा की राह लें। जीवन धन्य करें।

आसक्त जीवन, पाप, पीड़ा, हिंसा और अधर्म का मार्ग है। इसमें जीवन भटकता ही रहता है। अनासक्त आत्मस्थ धर्म, सुगंधित, पुष्पित, अमर, पुन्यमयी राह है। इस दिव्य मार्ग का अनुसरण करें। इसी राह से हम मानव योनि तक आ पाये हैं। यही राह हमें अमरपद की ओर ले जायेगी। राह को बदले नहीं। राह बदलने वाले भटक ही जाते हैं। जीवन एक यात्रा है। यहां कुछ भी ठहरा हुआ नहीं है। सांसें, धड़कनें, रक्त, कोश, सभी निरन्तर चल रहे हैं। पृथ्वी, ग्रह, सचराचर भी चल रहा

है। काल भी निरन्तर चलता ही रहता है। जो रूक गया, वह नष्ट हो गया। राह एवं गति को बराबर बनाये रहें।

यस्त्वामग्ने हविष्पतिर्दूतं देव सपर्यति।
तस्य स्म प्राविता भव।। 1/8।।

यः जो त्वा आपमें **अग्ने** हे अग्ने ! हे ब्रह्मज्वाला ! हविष्पति सामिग्री के अधिपति अर्थात यज्ञ, जिसके आप दूतम् दूत हैं, प्रतिनिधि हैं, सपर्यति समर्पित होता, पर्याय बनता, यज्ञ का, यज्ञ को अर्पित होकर, यज्ञ का ही पर्याय बनकर जीवन को धारण करता है, तस्य उनके, ऐसे तपस्वियों में आप स्म समाधिस्थ समाहित होकर भव प्रदान करते प्राविता विशिष्ट उत्पति, नित्य अमर जन्म।

जो तुममें, हे अग्ने ! हे यज्ञ ! हव्य अर्थात समिधा, सामिग्रीवत हुए अर्पित, तुम्हारे ही निमित्त, तुम्हारी ही प्रतिकृति, पर्यायवाची बन जिये, उन्होंने पाया नूतन अमर जन्म, अनन्त की राह में, वे अमर हो गये।

उपरोक्त ऋचा, स्पष्ट रूप से आत्म यज्ञ की ओर ही संकेत कर रही है। वाह्य यज्ञ में आत्महत्या तो सम्भव है। परन्तु अमरपद की कल्पना कौन कर सकता है? पुनः आत्मयज्ञ के द्वारा ही हमने मानव योनि में प्रवेश पाया है। आत्मयज्ञ के द्वारा ही जीव किसी भी योनि में प्रवेश, जन्म पाता है। योनि से योनि में भटकना भी आत्मयज्ञ के द्वारा ही सम्भव है। इससे भी स्पष्ट है कि वाह्य यज्ञ, मात्र निमित्त यज्ञ है। मूल यज्ञ आत्मा ही है। जैसे छोटी कक्षा में, प्रतीकों के माध्यम से, छात्रों को शब्द ज्ञान कराते हैं। उसी प्रकार वाह्य प्रतीक यज्ञ से, मूल आत्म यज्ञ का परिचय, छात्रों को आचार्य, इन ऋचाओं में करा रहे हैं। इससे, अब यह भी निसन्देह रूप से स्पष्ट हो जाना चाहिये, यज्ञ का अर्थ उत्पत्ति ही है। उत्पत्ति का ज्ञान और सामर्थ्य को पाने की राह ही, यज्ञ है।

यो अग्निं देववीतये हविष्माँ आविवासति।
तस्मै पावक मृळय।। 1/9।।

यो जो अग्निम् ब्रह्माग्नियों में देव अमर वीतय व्याप्त हो गये हविष्माँ हव्य, सामिग्री के समान आविवासति आकर वास कर गये,

अग्नियों में सांकल्य, सामिग्री से व्याप्त होकर जल गये। **तस्मै** उनको **पावक** पवित्रा अग्नियों ने **मूलय** अमर अवस्था में सदा सदा के लिये **लय** अर्थात व्याप्त कर लिया। फिर प्रलय द्वारा आवागमन नहीं हुआ उनका।

स नः पावक दीदिवो अग्ने देवाँ इहा वह।
उप यज्ञं हविश्च नः।। 1/10।।

स संयुक्त होकर, जीव, **नः** हम लोग **पावक** पवित्रा यज्ञाग्नियों में **दीदिवो** अमर दीप्ति बन कर (दीदिवो देवगुरू बुहस्पति का नाम भी है। सितारों के आकाश में टिमटिमाने को भी कहते हैं।) जगमगाते हुए **अग्ने** हे आत्मज्वाला ! **देवाँ** हे देवाधिदेव ! हे आत्मा ! हे यज्ञ ! **इहा** इस वर्तमान जीवन को **वह** वहन, धारण करें। हमारे जीवन आत्मयज्ञ में सदैव अर्पित रहें। **उप** व्याप्त, सम्मुख, डूबे रहें **यज्ञम्** आत्म यज्ञ में **च** तथा **हविः** सामिग्री, सांकल्य, हवन सामिग्री से जीवन के प्रत्येक क्षण, कर्म और विचार, सबकुछ आत्मयज्ञ में अर्पित होता रहे।

आत्मयज्ञ के पवित्र आकाश में, हम नित्य निरन्तर, यज्ञ की पवित्र अग्नियों से युक्त टिमटिमाते रहें, जगमगाते रहें ! हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण, विचार और चेष्टायें, कर्म, आचरण और व्यवहार, कामना एवं इच्छायें, सबकुछ आत्मा में ही समाधिस्थ हों। आत्म ज्वालाओं में सामिग्रीवत, यज्ञ होते रहें, निरन्तर !

स नः स्तवान आ भर गायत्रेण नवीयसा।
रयिं वीरवतीमिषम्।। 1/11।।

स संयुक्त होकर **नः** हम लोग **आ** आवाहन करें **भर** भरतार, सबका भरण पोषण करने वाले आत्मा रूपी यज्ञ का, **गायत्रेण** जो पूज्य हैं, हम सब का, गायत्रियों के अधिष्ठाता, नाम से जानते सब उनको, धारण, उत्पत्ति, सृजन, पालन, संहार एवं मोक्ष के दाता हैं। **नवीयसा** नित्य नूतन सृष्टि को प्रकट करते हैं, निरन्तर ! **स्तवान** सम्पूर्ण स्तुतियों एवं वन्दनाओं को वहन, धारण करते हैं। वह सबके वन्दनीय एवं पूज्य हैं। **रयिम्** शीघ्रता, आतुरता से, तड़प से हम ऐसे **वीरवतीम्** साहस और

ऐश्वर्य, सामर्थ्य एवं सत्ता सम्पन्न, **इषम्** आत्मा, ईश्वर से युक्त हों, आत्मा से जुड़ जायें।

आओ अद्वैत करें, हम सब, सचराचर के पूज्य आत्मा, यज्ञ से। सम्पूर्ण गायत्रियां, निरन्तर गाती जिन्हें। नित्य नूतन सृष्टि को प्रकट करते, मात्र वही आत्मा! उनसे मिल जायें, उनके लिये ही तड़प जगायें, एक ही हो जायें !

अग्ने शुक्रेण शोचिषा विश्वाभिर्देवहूतिभिः।
इमं स्तोमं जुषस्व नः।। 1/12।।

अग्ने हे ब्रह्मज्वाला ! **शुक्रेण** (अग्नि का एक नाम) उत्पत्ति में समर्थ, सृष्टि की वृद्धि करने वाली, **शोचिषा** पवित्रा एवं ज्योतियों से चमकाने वाली **विश्व** जगत, सचराचर का **अभिः** सम्मुख कराने वाली, प्रकट करने वाली, **देव** जीवन, अमरता, देवत्व में **हूति** आहूत कर, यज्ञ करके **अभिः** जीवन तथा अमरपद का साक्षात्कार कराने वाली, हे ब्रह्मज्वाला ! हे यज्ञाग्नि ! **इमम्** इस प्रस्तुत, इस प्रकार **स्तोमम्** यज्ञ, स्तुति, सूक्त में जो हम सब वन्दना कर रहे हैं, **जुषस्व** (जुष = जुड़ना, अद्वैत। स्व = आत्मा) आत्मा से जुड़ जायें, सदा सदा के लिये एक हो जायें, **नः** हमलोग।

एक सत्य जीवन का ऐसा भी है जिसे हम व्यवहार जगत में जीवन पर्यन्त असत्यपूर्वक जीते हुए भी यही मानते हैं कि हम पूरी ईमानदारी से सत्यनिष्ठ होकर ही जी रहे हैं। मेरा घर, मेरा परिवार, मेरे बेटे बेटियां, मैंने ही बनाये हैं। मैं ही इन सबका कर्त्ता धर्त्ता हूँ। जबकि सत्य इसके कतई विपरीत है।

जीवन की कड़वी सच्चाई मात्र इतनी ही है कि मैं अपने शरीर का एक जीवन्त कोश भी बनाना अबतक नहीं सीख पाया। यदि वेद की वर्तमान ऋचायें मुझे आगाह नहीं करती तो सम्भवतःमैं इस दिशा में सोच भी नहीं पाता। कभी जान भी नहीं पाता। कौन है जिसने भस्मी को पुनः पेड़ों के गर्भ में यज्ञों के द्वारा वनस्पतियों में प्रकट किया। पेड़ नहीं जानते यह सब होता कैसे है। सम्पूर्ण प्रक्रिया में वे निमित्त मात्र ही हैं। कौन है जो उन्हीं वनस्पतियों को शरीरों में यज्ञों के द्वारा पुनः यथा संतति में प्रकट कर रहा है ? शरीर इस प्रक्रिया से कतई अनभिज्ञ

हैं तथा देहधारी जीवात्मा भी इससे सवर्था अनभिज्ञ हैं। फिर भी मानता ही नहीं अपितु दम्भ भी करता हूं कि मैं ही सबकुछ हूं ! मैं ही सब पर कृपा अहसान करने वाला हूं। सत्य यही है कि प्रत्येक सांस भीख में पाता हूं। प्रत्येक क्षण किसी ने भीख में कृपा करके दिया है। मैं उसे न तो जानता हूं तथा न ही जानने का प्रयास ही करता हूं।

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के दूसरे ऋषि मेधातिथिः काण्वः के प्रथम सूक्त का हमने शब्दार्थ सहित सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त किया है। इससे पूर्व हम ऋग्वेद प्रथम मण्डल के प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा के 10 + 1 सूक्तों के ज्ञानामृत का पान "ज्योतिर्वेद के विभिन्न सोपान – द्वितीय खण्ड" में प्राप्त कर चुके हैं।

इस सूक्त में निमित्त वाह्य यज्ञ के द्वारा, प्रत्येक शरीर में चल रहे सत्य आत्मयज्ञ के अमृत को हमने जानने का प्रयास किया है। अब दूसरे सूक्त में हम प्रवेश करेंगे।

मेधातिथिः काण्वः। द्वितीय सूक्तम्।।

प्रथम सूक्त के रहस्यों के जानने के उपरान्त हमारे मन में कुछ शंकायें उत्पन्न हो गयी हैं। यदि, यज्ञ का यही मूल स्वरूप आदिकाल से रहा है, तो आधुनिक युग में धार्मिक समाज और मठाधीश वर्ग, इसे क्योंकर भुला बैठा ?

एक हजार से 1200 वर्ष का दासता का अन्तराल, यह ही वह समय है, जब इस देश की संस्कृति, सभ्यता, धर्म और सामाजिक मान्यताओं को बलिदान देना पड़ा था। दासता, गुलामी, कोई वरदान नहीं होती। तपस्वी ऋषि, निहत्थे, असहाय मारे गये। गुरूकुल, ऋषिकुल, विश्वविद्यालय, सब जलाकर भस्म कर दिये गये। उस युग में छापाख़ाने और कागज़ भी नहीं जन्मा था। धर्म, धार्मिक अनुष्ठानों, यहां तक कि चर्चा पर भी पहरे बिठा दिये गये थे। भोजपत्र जला दिये गये। ताम्रपत्र, रजतपत्र तथा स्वर्ण पत्रों पर लिखा साहित्य गलाकर, धातु के रूप में लूट लिया गया। सबकुछ लुट गया।

हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि आक्रांता भाड़े के हिंसक गंवार सैनिक ही थे। कोई पीर, फकीर अथवा मसीहा नहीं। उनसे किसी

प्रकार की मानवीयता की कल्पना भी नहीं हो सकती थी। उनके लिये हर वस्तु लूटने भोगने की ***माले गनीमत*** मात्र ही थी।

गुरूकुल, ऋषिकुल का स्थान मदरसे लेने लगे। ब्रिटिश गुलामी ने इसी विनाश में घी का काम किया। स्कूल और कालेज, **लार्ड मैकाल** के स्वप्न साकार करने में लग गये। भारत का मानव अपनी संस्कृति, सभ्यता और धर्म के नाम पर, अतीत को शव बनाकर ढोने वर विवश हो गया। विदेशियों की नकल के रूप में, धर्म के स्थान पर साम्प्रदायिकता, नये खेल खेलने लगी। ऐसे ही बहुत से कारणों से, सम्भवतः, प्रतीक ही मूल धर्म का रूपक बनकर रह गये हों ! यह एक गम्भीर शोध का विषय है।

महाभारत काल में भी लोग वेद के अमृत से अछूते नहीं थे। महाभारत महाकाव्य इसका अटल साक्षी है। मेधातिथिःकाण्वः, महाभारत महाकाव्य में, दुर्योधन को सन्धि के लिये समझाने हेतु जाते हैं। इसकी चर्चा महाभारत महाकाव्य में है। इससे लगता है कि ऋषि का काल, महाभारत युद्ध के समकक्ष ही है। यदि ऐसा है, तो इससे स्पष्ट है, कि सत्य दासता के कारण भ्रमित हुआ होगा। इसी समय में प्रतीकों ने सत्य का स्थान ग्रहण किया होगा।

ऋग्वेद के प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा का काल भी महाभारत काल ही है। श्रीकृष्ण, वेदव्यास के साथ, उन्हें मिलने के लिये गये थे। यह कथा व्यापक रूप से पहाड़ों पर प्रचलित है। इसका वर्णन पुराणों में भी मिलता है।

दासता के अन्तरालों के उपरान्त भी भारत की शिक्षा, धर्म और संस्कृति को गुलामी में ही रहना पड़ा। 57 बरस अगवाकरण में बीत गये हैं। जब कुछ चिन्तक, विचारक, मनीषीजन सचेत होकर, भारत को भारत सा बनाने की बात करने लगे, तो भगवाकरण का नारा बुलन्द कर दिया गया। अगवाकरण सही है, सर्वथा उचित है। आज के शिक्षाविद, एक पोर्टर, कुली की भांति शिक्षा को ढोने पर विवश हैं। शिक्षा, क्या और कैसी हो ? इसका निर्णय वोट बैंक भोगवादी नेता ही करता है। कभी शिक्षा गुरूकुल में ऋषि के आधीन थी। तब आचार्य का सम्मान

ईश्वरतुल्य था। अब शिक्षा नेता के आधीन है। शिक्षक का समाज में व्यवहारिक रूप अथवा सम्मान क्या है ?

गुलामी के इस अंधकार युग में वेद के भाष्य के नाम पर घृणित मज़ाक भी बहुत प्रकार के हुए। मूर्ति भंजक सम्प्रदायों को मनोवैज्ञानिक धोखाधड़ी का जामा पहनाकर तथा वेदादिक ग्रंथों का गलत भाष्य करके भोले लोगों को गुमराह किया गया।

सुसमिद्धो न आ वह देवाँ अग्ने हविष्मते।
होतः पावक यक्षि च।। 2/1।।

सु दिव्य, आलौकिक **सम्** समान, सदृश्य **इद्धो** (इद्धः) चमकने, प्रकाशित होनेवाले **न** (नः) हम लोग, हम सब में, **आ** आकर, आवाहन द्वारा **वह** वहन, धारण करने वाले, **अग्न** ब्रह्मज्वाला, आत्माग्नि, **देवाँ** देवता, देवत्व प्रदान करने वाले, आत्मा के रूप में शरीरों में व्याप्त, **हविष्मते** हवन सामिग्रीयों को ग्रहण करने वाले, यज्ञ में हवन सामिग्री को भस्म करने वाले। **होतः** यज्ञकर्त्ता, यज्ञ में न्यौछावर होने वाला, यजमान, **पावक** पवित्र अग्नियों में, यज्ञ की ज्वालाओं में, **यक्षि** यजन, पूजन, समर्पण, व्याप्त होने वाला **च** तथा, इस प्रकार।

आवाहन करें, प्रेरित करें, आत्मज्वालाओं को ! वे महान अग्नियाँ, जिनमें व्याप्त होकर हम पाते जीवन के अमृत क्षण। आत्मज्वालाओं में निरन्तर यज्ञ होते रहें। सदा आत्मा की पवित्र अग्नियों में, पवित्र होते रहें। आत्मा ही सचराचर का जनक है। आत्मा ही पिता है। आत्मज्वाला ही माता है। आत्मा ही ईश्वर, परमेश्वर है। आत्मा को ही लीला कथाओं में घटघटवासी श्रीराम, श्रीकृष्ण, नव माताओं के रूप में सम्मानित किया गया है। आत्मा को अर्पित हों। आत्म यज्ञार्थ, आत्म सेवार्थ, आत्मवत, आत्मनिमित्त जीवन को यज्ञ के रूप में धारण करें।

मधुमन्तं तनूनपाद् यज्ञं देवेषु नः कवे।
अद्या कृणुहि वीतये।। 2/2।।

मधुमन्तं माधुर्य के अनन्त भण्डार, सत्व रस से परिपूर्ण **तनु** शरीर में व्याप्त होकर **नपात्** पात से रहित, पतन से बचाने वाली, **यज्ञम्** यज्ञों के द्वारा **देवेषु** देवत्व में, सत्य और सत्व में, ऐश्वर्य में **नः** हम सब जीवधारियों को उत्पन्न तथा सम्पन्न करने वाली, **कवे** हे आत्मा की अग्नि ! हे

आत्मन ! अद्या सबको तृप्त करने वाले, सामिग्रीयों को यज्ञ में भोजन के रूप में कृणुहि ग्रहण करके **वीतये** अपने में व्याप्त करें।

हे आत्मा ! हे यज्ञ ! जिसप्रकार आपने जड़ पदार्थों को ग्रहण एवं यज्ञ के द्वारा, पावन वनस्पतियों के रूप में प्रकट किया। जिसप्रकार आपने अन्नादिक को यज्ञ के द्वारा, नवजात शिशु के रूप में प्रकट किया। जिसप्रकार आप भोजन को आत्मज्वालाओं में यज्ञ करते शरीर की, पातक से निरन्तर रक्षा करते हैं। उसी प्रकार इस वाह्य यज्ञ में हमारे पातक सामिग्री सहित हरें तथा आत्मयज्ञ में, ऐसे ही हमें सामिग्रीवत ग्रहण करते अनन्त की राह प्रदान करें। हम आपके ही द्वारा हैं ! हम आप में ही हैं ! हमें अपने में व्याप्त करके, हमारा उद्धार करें !

विलक्षण लीला है। दिखता केवल वाह्य प्रतीक यज्ञ ही है। जबकि प्रज्वलित दो यज्ञ हैं। एक यज्ञ बाहर है, तो दूसरा, नित्य एवं मूल यज्ञ, भीतर, हम सब में नित्य प्रज्वलित है। श्रीमद् भगवतगीता में श्रीकृष्ण ने वीरवर सखा अर्जुन से कहा है कि जगत निमित्त मात्र है। तू भी निमित्त मात्र हो। यदि यही बात कोई हमें कहे तो हमारा दम्भ आहत हो जायेगा।

नराशंसमिह प्रियमस्मिन् यज्ञं उप ह्वये।
मधुजिह्वं हविष्कृतम्।। 2/3।।

नरा ब्रह्मज्वाला की **शंसम्** प्रतिष्ठा, प्रशंसा, अर्चना **इह** इस प्रकार, इस भांति **प्रियम्** अतिशय प्रिय **अस्मिन्** ऐसे, इस प्रकार, **यज्ञम्** आत्मा के सत्य यज्ञ में **उप** व्याप्त होकर, अद्वैत करके, समाधिस्थ होकर **हव्ये** हवन, यज्ञ हो जायें **मधुजिह्वम्** आत्मा रूपी मधुर अमृत भक्ति रस का पान करते, आत्म रस में व्याप्त होकर **हविष्कृतम्** यज्ञ होकर अमर अनन्त की राह लें ! जीवन धन्य करें हम !

चलो रे मन ! आत्मयज्ञ की ओर ! वाह्य जगत में, मृत्यु अन्त है ! आत्मजगत में, जीवन नित्य अनन्त है ! मिलेगी हमें, एक नित्य भोर ! ब्रह्मज्वालाओं ने उभारा है, हमें। जड़त्व से मानव तन में, संवारा है, हमें। वे ही जननी हैं हमारी। वे ही जनेगीं हमें, सदा। प्रत्येक योनि में ! चलो उनकी शरण हो जायें ! वाह्य जगत के विषयों के रस का परित्याग कर, आत्मज्वालाओं के मधुर रस से जिह्वा को वरद करें !

जीवन यज्ञ की धरोहर है। जीवन यज्ञ करें ! एक प्यास हो, एक तड़प हो, आत्मरस की।

अग्ने सुखतमे रथे देवाँ ईळित आ वह।
असि होता मनुर्हितः।। 2/4।।

अग्ने हे अग्ने ! **सुखतमे** सबके अतिशय सुख के दाता **रथ** शरीर, देह रूपी वाहन अथवा घर में विराजमान **देवाँ** देवाधिदेव, देवों के **ईळित** पूजनीय, अद्वैत के योग्य, प्रशंसनीय, वन्दनीय **आ** आवाहन करते हैं, हम सब आपका **वह** वहन, धारण करें **असि** जो मिटने, अपने अस्तित्व को आपमे खोकर अद्वैत करने आये हैं, **होता** यज्ञ के यजमान, यज्ञ के न्यौछावर, हे यज्ञ ! आप उन्हें **मनुर्हितः** कालजयी बना दें ! मनु अर्थात काल के ग्रास बनने के स्थान पर उन्हें अमर करने के हित की कृपा करें। आप उनकी मनोकामना की पूर्ति की कृपा करें।

हे देवपूज्य ! हे सचराचर के स्वामी ! हे देवाधिदेव ! हे आत्मा ! सचराचर के सुखधाम ! हम यज्ञ में व्याप्त होने आये हैं। हमारी मनोकामना की पूर्ति करें। हमें आत्माद्वैत का वरण करायें। आत्मा से हीन, हमारी कोई गति नहीं हैं। आप आत्मा हैं, हमें अपने में मिलाकर अनन्त करें। हमारे जीवन, मृत्यु की सीमा पर, व्यर्थ न हो जायें। हम आप में ही नित्य वास करें।

प्रत्येक ऋचा, हमारे भीतर आत्मा के सम्मुख, नत मस्तक है। व्यक्ति की पहचान, भले उसके शरीर अथवा वाह्य आडम्बर से हो, परन्तु उसके स्थायित्व तथा होने का कारण तो आत्मा ही है। उसी प्रकार वाह्य यज्ञ भले यज्ञ की पहचान हो, परन्तु यज्ञ की आत्मा, हम सब की आत्मा ही है।

मन्दिर और मूर्ति की भांति ही हम यज्ञ के वाह्य आडम्बर तक सीमित होकर रह गये। दासता के अन्तराल, धर्म की आत्मा से, हमें अलग करने में सफल रहे। सागर के समीप हम प्यासे रहे, तब से आज तक। प्रत्येक ऋचा बाहर के यज्ञ को निमित्त उदाहरण का रूपक लेकर, हमारे भीतर, आत्मयज्ञ की ओर ही संकेत दे रही है। हम बाहर ही रह गये। भीतर आत्मयज्ञ की कल्पना भी न जगा पाये।

स्तृणीत बर्हिरानुषग् घृतपृष्ठं मनीषिणः।
यत्रामृतस्य चक्षणम्।। 2/5।।

स्तृणीत फैलना, विस्तृत, व्यापक, व्याप्त **बर्हिः** अग्नियों का गर्भकुण्ड, यज्ञ के मध्य का गहरा भाग जहां यज्ञ की अग्नि समाधिस्थ रहती है **आनुषक** लिपटे हुए, संग संग, घुले मिले से, **घृतपृष्ठम्** घी से सनी हुई समिधायें एवं सामिग्री, प्रेम एवं एकाग्र साधना से सिंचा हुआ समर्पित मन, **यत्र** इसप्रकार, जैसे, **अमृतस्य** अमृत का, आत्मा के अमृत रस का, **चक्षणम्** चखना, पान करना, पीना, **मनीषिणः** मनीषि तपस्वी, योगीजन, साधक भक्तजन।

यज्ञ की अग्नियों में, जिसप्रकार, घी से सनी सांकलय एवं सामिग्री का हवन यज्ञ करते मनीषिगण, उसीप्रकार, आत्मा रूपी यज्ञ में जो बनकर सामिग्री एवं सांकल्य, प्रेम, एकाग्र साधना एवं समर्पण के घृत से सना हुआ, अर्पित हो करता निज का यज्ञ, आत्मा यज्ञ के गर्भकुण्ड से पाता नित्य अमर जन्म, अनन्त की अमर राह।

पुनः, वर्तमान ऋचा वाह्य यज्ञ को मात्र उदाहरणार्थ ग्रहण करती, आत्मयज्ञ की उपलब्धियों की ही स्थापना करती है। जीवन के सूक्ष्म रहस्यों को, आत्मा रूपी यज्ञ में खोजने की अद्भुत कल्पना हमें वेद में मिलती है। इस महाविज्ञान के रहस्य को सतही जिन्दगी जीने वाले व्यक्ति, क्योंकर समझ पाते। उत्पत्ति के रहस्य वहीं तो मिलेंगे, जहां निरन्तर उत्पत्ति, आत्मा द्वारा हो रही है। वाह्य यज्ञ में एक चूहा भी तो उत्पन्न नहीं हो सकता। वाह्ययज्ञ, हमें आत्मप्रेरित, आत्म उद्वेलित करने का अमृतकार्य निश्चय ही करता है। यह किसी भी उपलब्धि से कम नहीं है। जो मुझे आत्मयज्ञ की ओर प्रेरित करे, आत्मा की भांति ही पूज्य एवं वन्दनीय है। परन्तु उसे समझना, सही भावना में ग्रहण कर, आत्मयज्ञ की ओर झुकने का ज्ञान भी होना चाहिये। " जिन खोजा तिन पांईयां, गहरे पानी पैठ।"

वि श्रयन्तामृतावृधो द्वारो देवीरसश्चतः।
अद्या नूनं च यष्टवे।। 2/6।।

वि विशिष्ट, व्यापक रूप से **श्रयन्ताम्** आश्रित, समाधिस्थ, स्थित होकर **ऋतः** आत्मज्ञान, आत्म अमृत, सृष्टि ज्ञान की **वृधः** वृद्धि, प्राप्ति,

सिद्धि की जिसने **देवीः** आत्म यज्ञ की ज्वाला में **असश्चतः** सामिग्रीवत अर्पित स्थापित होकर, स्वयं को आत्माग्नि में अद्वैत करके जिसने, **अद्या** ऐसे यज्ञ में तृप्त **नूनम्** ज्योतिर्मय प्रकाशित होता है **च** तथा **यष्टवे** अमरपद पाता है।

आत्मस्थल को अर्पित, आत्मा में स्वयं को अंतिम रूप से अर्पित करता है जो, आत्म ज्वालाओं में बन सामिग्री, बन सांकल्य, व्याप्त हो जाता आत्मा में। पाता है मात्र वही, अमरपद। सार्थक जीवन उसका।

नक्तोषासा सुपेशसास्मिन् यज्ञ उप ह्वये।
इदं नो बर्हिरासदे।। 2/7।।

नक्तोषासा (नक्त = ढलती सांझ, रात्रि + उषा = प्रातः, ब्रह्म मुहुर्त + सा = सदृश्य, समान) निशिदिन, सांझ सवेरे, निरन्तर, झुके हुए क्षितिज के सदृश्य, आत्मा में व्याप्त हो गया है जो, **सुपेशसा** (सु = दिव्य, आलौकिक + पेश = पीसना, सूक्ष्म होकर मिल जाना, + सा = सदृश्य, समान) पूरी तरह से सूक्ष्म यज्ञ होकर आत्मा के यज्ञ में मिल गया है, **अस्मिन्** इस प्रकार जो, **यज्ञ** यज्ञ में, आत्मा में **उप** व्याप्त, सम्मुख, **ह्वये** हवन, यज्ञ होने के लिये, सामिग्री बन जलने के लिये, **इदम्** ऐसे **नो** हम लोगों को, यज्ञ के साधकों को **बर्हिः** आत्म ज्वालाओं के ज्योतिर्मय गर्भ में **आसदे** शरण सद् गति प्राप्त हो।

आत्मा के अमृत यज्ञ में जो निशि दिन अर्पित हवन होता। पीस कर सूक्ष्म कर देता अपने मान, सम्मान के भ्रम एवं सम्पूर्ण आसक्तियां, झुक जाता भक्तिपूर्वक आत्मा के यज्ञ में, करता हवन जीवन के प्रत्येक क्षण, ऐसे ही पाते परमपद, आत्मा का नित्य सानिध्य और अमर राह।

ता सुजिह्व उप ह्वये होतारा दैव्या कवी।
यज्ञं नो यक्षतामिमम्।। 2/8।।

ता उनको, दोनों को (प्रलय एवं उत्पत्ति) **सुजिह्वा** यज्ञ की ज्वाला, दिव्य लपलपाती जिव्हाओं वाली, ब्रह्माग्नि में **उप** व्याप्त, अर्पित, सम्मुख **हव्ये** हवन यज्ञ होकर **होतारा** यज्ञ को करने वाले यजमान, यज्ञ में न्यौछावर **दैव्या** महादेवी, यज्ञ की अमर ज्वाला, जगत जननी, **कवी** आत्मा, सचराचर की अधिष्ठात्री **यज्ञम्** यज्ञ में **नो** हमलोगों को **यक्षताम्** (यक्ष = पूजा, अर्चना, स्तुति, समर्पण तथा एक जाति का नाम

भी, पुजारी) साधकों कों, यज्ञ को अर्पित भक्तों को **इमम्** इस प्रकार ग्रहण करें, यज्ञ करें, अंगीकार करें।

वे जो अर्पित हैं आपको, आपके अनन्य उपासक पुजारी, हव्य की भांति अर्पित आपकी यज्ञ अग्नियों को ! उनका करें अतिशय कल्याण, हे जगत जननी, हे ब्रह्मज्वाला ! उन्हें आप ही प्रदान कर सकती हैं नित्य अवस्था ! अनन्त की राह !

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः।। 2/9।।

इळा महालक्ष्मी **सरस्वती** महादेवी सरस्वती **मही** महादुर्गा **तिस्रो** तीनों **देवीः** महादेवियों **मयाः** परिपूर्ण, सम्पूर्ण, महादेवीमय **भुवः** सचराचर प्रकट है। **बर्हिः** इन तीनों के अग्नि गर्भ रूपी कुण्ड से **सीदन्त्** प्रकट तथा जीवन्त तथा **अस्रिधः** पुष्ट एवं सशक्त होता है।

सम्पूर्ण दृश्यमात्र केवल परछांई भर है। माता, पिता, पत्नी, पुत्र, पुत्री, मेरा, तेरा, अपने, पराये, मित्र, शत्रु आदि ! सब परछांई भर हैं। सत्य, मात्र वही है, जो दिखता ही नहीं है। आत्मा रूपी यज्ञकुण्ड की अधिष्ठात्री महा अग्नियां, महादेवियां, महालक्ष्मी, महासरस्वती, महादुर्गा, ये ही **बर्हि** अर्थात यज्ञकुण्ड के गर्भ गृह से, सम्पूर्ण दृश्यमात्र, जड़, चेतन, सचराचर को प्रकट करती हैं। इन्हीं से सब पुष्टता तथा जीवन का अमृत पाते हैं। अज्ञानी जन, भ्रमवश, असत्य को ही सत्य के रूप में जानता है। किसी को भी, जीवन का एक कोश, रक्त का एक जीवन्त कण, बनाना नहीं आता। फिर भी, असत्य को सत्य मानकर जीने वाला भ्रमित समाज, भेदभाव को ही सत्य मानकर, भेदभाव को धर्मपूर्वक जीने का दम्भ भरता है। अंग बनाना तो जानता नहीं, माता पिता का दम्भ ही सत्य के नाम पर ओढ़े ही मर जाता है। जिसने मनुष्य होकर भी जीवन के सूक्ष्म सत्य को नहीं जाना, वह किस योनि में जाकर सत्य का दर्शन पायेगा ?

इह त्वष्टारमग्रियं विश्वरूपमुप ह्वये।
अस्माकमस्तु केवलः।। 2/10।।

इह जीवन जगत में **त्वष्टारम्** तुममें ही नित्य स्थित **अग्रियम** तुम्हें ही अपना अग्र पूज्य, आराध्य मानकर **विश्वरूपम्** सर्वस्व, जीवन,

जगत, सचराचर, सबकुछ मात्र यज्ञ ही है, यज्ञ का ही सर्वस्व है, ऐसा मानकर **इवय** हव्य अर्थात हवन की सामिग्री सा अर्पित करता रहा, जीवन को यज्ञ में, **अस्माकम्** ऐसे हम भक्तों, उनको ही **अस्तु** ऐसा ही हो का वरदान, आश्वासन मिला और वे ही पाये **केवलः** कैवल्य अर्थात अमर पद।

हे यज्ञ ! जिसने जीवन के सत्य को पाया, उसने ही तुम्हें पहचाना ! तुममें ही अर्पित समर्पित जिया, सदा तुममें ही बसकर जिये, जीवन के प्रत्येक क्षण उसने आप में ! तुम्हें ही अग्रदेवता, सर्वेश्वर जाना उसने, तुम्हीं बने उसका सम्पूर्ण ऐश्वर्य और संसार ! निरन्तर हव्य सा जलता रहा जो नित्य निरन्तर तुममें, वही हुआ वरद ! पाया अमरपद ! जीवन धन्य हुआ मात्र उसका ही।

यज्ञ से ही सचराचर प्रकट होता है। यज्ञ ही सबका धाता, विधाता, माता, पिता, सर्वेश्वर है। यज्ञ ही जीवन की पुष्टता एवं स्थायित्व है। आत्मा ही यज्ञ हैं। वाह्य यज्ञ, मूल आत्मयज्ञ की प्रतिध्वनि, प्रतिबिम्ब तथा प्रतिकृति एवं सुधि पहचान है। जिसप्रकार, माता–पिता सन्तान उत्पति के मूल में निमित्त होते हैं, जबकि सन्तान तो आत्मा के द्वारा ही रूप पाती है। उसी प्रकार वाह्य यज्ञ माता–पिता की भांति ही प्रधानता ग्रहण करता हुआ, दृश्य होता है। माता पिता की भांति ही जनक होने का सम्मान पाता है। सत्य रूप में आत्मा ही माता–पिता तथा जनक है। अन्य किसी को यह विज्ञान अथवा सम्मान प्राप्त नहीं है। फिर भी लोकाचार व्यवहार में, वाह्य माता–पिता ही जनक भरतार माने जाते हैं। उसी प्रकार वाह्य यज्ञ के स्वरूप को जानना चाहिये।

सनातन धर्म किसी व्यक्ति की कल्पना मात्र नहीं है। सम्पूर्ण वाह्य दृश्यमात्र तथा अन्तर्मन के अदृश्य सत्य का ज्यों का त्यों दर्शन, अक्षरशः अनुसरण एवं प्रदर्शन का नाम सनातन धर्म है। वाह्य जीवन का लीलात्मक तथाकथित सत्य तथा आत्मा का नित्य सत्य, यथा सम्मानित एवं प्रदर्शित करना ही सनातन धर्म की विशेषतः है। सम्प्रदायों में इसका सर्वथा अभाव सा प्रतीत होता है। वे सब एक ही दिशा में अपने को थोपते से लगते हैं। वाह्य जगत को ही धर्म माना तो आत्म जगत का निरोध करने पर उतर आये। आत्मजगत ही सत्य लगा, तो वाह्य जगत

का निरोध करने लग गये। जबकि सनातन धर्म ने वाह्य तथा आत्मजगत का यथा सम्मान किया है। लीला कथाओं तथा अवतार कथाओं का यही रहस्य है। मूर्ति आत्मा का प्रतीक होते हुए भी कथा विशेष के लीलानायक की प्रतिमा होकर, यथा पूजित भी है। उसका आराध्य भी घटघट वासी है, आत्मा है। दिखती व्यक्ति पूजा है, परन्तु सत्य रूप में आत्मपूजा ही मूर्तिपूजा है। दृश्य एवं अदृश्य का अक्षरशः अनुसरण !

अव सृजा वनस्पते देव देवेभ्यो हविः।
प्र दातुरस्तु चेतनम्।। 2/11।।

अव अवनति को प्राप्त, भस्मी में परिणित हो गये जीवन, जीवन से हीन होकर मृत्यु की गोद में, धरती में समा गये शरीर, **सृजा** उत्पन्न करते आप, पुनः **वनस्पते** वनस्पतियों में, पवित्र फलों, वनस्पतियों के जीवन में, **देव** हे आत्मा ! हे देव ! हे यज्ञ ! **देवेभ्यो** देवतुल्य मानव तन पाता वह पुनः आपकी कृपा दया से, **हविः** यज्ञ के द्वारा। **प्रदातु** प्रदान करते दिव्य देवतुल्य मानव तन का जीवन तथा **प** प्रदान करते **अस्तु** अमर पद, देवता की अमर अवस्था, **चेतनम्** नित्य चेतन अमर अवस्था। हे यज्ञ आप ही ऐसा कर सकने में समर्थ हैं।

चिता जल उठी ! शरीर भस्मी में लौट गया। भस्मी ने पानी का संग किया, खाद बनकर खेतों में गन्दले पानी सी बहने लगी। पेड़ों की जड़ों ने उसे भोजन के रूप में ग्रहण किया। पेड़, पौधों की आत्मज्वाला रूपी यज्ञ में, पुनः यज्ञ के द्वारा, फलों वनस्पतियों में लौट चली, चिता की भस्मी, किसी का खो गया शरीर ! एक दम्पत्ति ने भोजन के रूप में फलों एवं वनस्पतियों को ग्रहण किया। आत्मज्वालाओं ने यज्ञ के द्वारा, भोजन को रक्त, मांस, शुक्र, अण्ड, आदि में प्रकट कर, पुनः नवजात शिशु में प्रकट कर दिया। भस्मी में खो गया शरीर, यज्ञ के द्वारा, पुनः लौटकर मानव का रूप पाया। न जाने कितनी–कितनी बार ! बारम्बार !

यूँ लौटते रहे हैं हम सब ! यही पुनर्जन्म की कथा हमारी। जिसे सनातन धर्म ने आवागमन के रूप में, हमें कथाओं में सुनाया है। दो रास्ते हैं। आत्मा में अमर यज्ञ होकर अनन्त की राह, अथवा आवागमन के भटकावों द्वारा लौटना तथा भटकना ?

स्वाहा यज्ञं कृणोतनेन्द्राय यज्वनो गृहे।
तत्रा देवाँ उप ह्वये।। 2/12।।

स्वाहा (स्व = आत्मा।) आत्मा को ही अर्पित, आत्मा के प्रति, आत्मा में स्थित, **यज्ञम्** यज्ञ को, **कृणोतन** करते तन मन से **इन्द्राय** महान दिव्य **यज्वनो** यजमान के **गृहे** घर (देह) में। **तत्रा** वहां **देवाँ** देवत्व में **उप** व्याप्त **ह्वये** हव्य होकर हवन से पाता देव जन्म !

इस सूक्त में निर्विवाद रूप से स्पष्ट हो जाना चाहिये, यज्ञ एक नहीं, दो हैं। वाह्य यज्ञ तथा आत्मयज्ञ ! वाह्य यज्ञ, वाह्य शरीर, वाह्य संसार की भांति है। आत्म यज्ञ, आत्मा की भांति ही, न दिखता हुआ, परन्तु मूल सत्य यज्ञ है। यही हमको जन्मने, पालने तथा हर ओर से हमारी रक्षा करने वाला है। यह यज्ञ ही हम सबको भस्मी से पुनः मानव रूप में लाता है। वाह्य यज्ञ तथा वाह्य संसार और माता पिता आदि निमित्त मात्रा हैं। वे उन बर्तनों की भांति हैं, जिसमें आत्मा रूपी यज्ञ हमें प्रकट करता है, एक हलवायी के समान। जिसप्रकार, बर्तन मिठाई नहीं बनाते, हलवायी ही उन बर्तनों के द्वारा मिठायी बनाता है। यही अवस्था आत्मयज्ञ तथा वाह्य यज्ञ की है।

तृतीय सूक्तम् !

ऐभिरग्ने दुवो गिरो विश्वेभिः सोमपीतये।
देवेभिर्याहि यक्षि च।। 3/1।।

ऐभिः सम्मुख आपके रहें सदा, **अग्ने** आत्मज्वाला, हे ब्रह्माग्नि ! **दुवो** (दु = जलाना। दुवो = सामिग्री एवं सांकल्य को भस्म करने वाले) सामिग्री के उद्धारक, उत्थान एवं कल्याण को करने वाले, हे अग्ने ! **गिरो** (गिर = वन्दनीय, पूजनीय। गिरो = स्तुतियों को ग्रहण करने वाले) हे सचराचर के पूज्य ! **विश्वेभिः** (वि = विगत, नष्ट करने वाले। श्व = मृत, मृत्यू। विश्व = क्षणभंगुर, संसार, मृत्यु से रहित करने वाला। अभि = सम्मुख कराने वाले) जीवन का सम्मुख करने वाले, जीवन में व्याप्त करने वाले। **सोम** यज्ञ की अगर जीवनजयी ज्योतियों का **पीतये** पान करने, अथवा कराने वाले, हे! महान अग्ने ! हे यज्ञ ! हे

आत्मा ! **देवेभि** आत्म यज्ञ में, **आयाहि** आवाहन है आपका, पधारें, प्रकट हों **च** तथा **यक्षि** पूजाओं, यज्ञ को सफल अमर करें।

आहुतियां, भले ही आचार्य एवं बालक, वाह्य यज्ञ में अर्पित कर रहें हैं, परन्तु अर्चना, वन्दना, वे आत्मा रूपी यज्ञ की ही कर रहे हैं। प्रत्येक ऋचा आत्मा को ही इंगित कर रही है। एक साथ दो यज्ञों की कल्पना, प्रत्येक ऋचा में स्पष्ट है। प्रत्यक्ष एवं परोक्ष, दो यज्ञों की चर्चा सर्वत्र है।

आ त्वा कण्वा अहूषत गृणन्ति विप्र ते धियः।
देवेभिरग्न आ गहि।। 3/2।।

आ आवाहन है ! **त्वा** आपका हे यज्ञ ! **कण्वा** अतिशय निर्मल करने वाले, सूक्ष्म परंब्रह्म से प्रकट **अहूषत** आवाहित, समर्पित, तिरोहित होने वाले **गृणन्ति** देवज्ञान को प्रदान करने वाले, देवगुरू बृहस्पति के समान पूज्य **विप्र** तपस्वियों, साधकों, वैरागियों, योगियों **ते** के द्वारा **धियः** धारण किये जाने वाले, सचराचर पूज्य **देवेभिः** देवत्व का सम्मुख (देव + अभि) कराने वाले हे **अग्ने** अमर अग्नि **आगहि** आयें एवं ग्रहण करें यज्ञाहूतियों स्वरूप हमारे समर्पण को।

आवाहन करते हम भक्त आपका ! हे आत्मा स्वरूप यज्ञ ! हे ब्रह्मज्वालाओं के प्रज्जवलित महाकुण्ड प्रकट हों। जीवन, सृष्टि, उत्पत्ति एवं प्रलय ज्ञान एवं सामर्थ्य को प्राप्त, हे देव पूजित यज्ञ ! हमें अतिशय निर्मल करें तथा अमर राह के अमृत ज्ञान एवं सामर्थ्य से वरद करें। हमें यज्ञ में ग्रहण कर अमर जन्म प्रदान करें।

गुरूकुल की आरम्भिक शिक्षा के क्षणों में हम हैं। यज्ञोपवीत संस्कार के उपरान्त बालक शिष्य रूप में गुरूकुल में ग्रहण किये जाते थे। ऋग्वेद ही उनकी आरम्भिक शिक्षा का सत्र बनता था। कल्पना करें उन ग्याराह वर्ष की आयु के छात्रों का जो सहज ही जीवन के गूढ़ गहन रहस्यों को सहज ही आत्मसात कर जाते थे। जिनका अब बुढ़ापे तक तक भान भी सम्भव नहीं है। वे आपके पूवर्ज थे। आप उनके वंशज हैं।

इन्द्रवायू बृहस्पतिं मित्राग्निं पूषणं भगम्।
आदित्यान् मारुतं गणम्।।3/3।।

इन्द्र देवलोक (नक्षत्र मण्डल विशेष, ग्लैक्सी जिसकी सूर्य मण्डल परिक्रमा कर रहा है।) मानव शरीर में मन, **वायू** ग्रहों पर जीवन को धारण करने वाला प्राणवायु, **बृहस्पतिम्** देवताओं के गुरू वृहस्पति, सूर्यलोक के ग्रहों में एक ग्रह बृहस्पति जो वस्तुतः{ ग्रह न होकर एक छोटा सूर्य अथवा तारा है,} **मित्राग्निम** मित्र तथा अग्नि यह नक्षत्र मण्डल तथा देवताओं के नाम, **पूषणम् भगम** नक्षत्र मण्डलों के नाम तथा देवताओं के नाम भी हैं। **आदित्यान्** द्वादश आदित्य तथा **मारुतम् गणम्** उनचास (49) मरूत गण आदि भी आदिकाल में इसी यज्ञ से उत्पन्न हुए हैं। अन्यथा यह सब आत्मयज्ञ की अग्नियों के नाम हैं जिनके द्वारा ही यज्ञ से सृष्टि उत्पत्ति नित्य निरन्तर होती है।

वैदिक मान्यतानुसार ग्रहों नक्षत्रों की सृष्टि भी यज्ञ के द्वारा ही होती है। आधुनिक मान्यता के विपरीत, यह दुर्घटनावश कदापि उत्पन्न नहीं होते। इनकी उत्पत्ति क्षीरसागर में नियमपूर्वक होती है। (इस विषय का विस्तार **"सनातन दर्शन के नौ अध्याय"** तथा **"ज्योतिर्वेद के विभिन्न सोपान"** नामक पूर्व ग्रन्थों में है।) जीवन यज्ञ तथा यज्ञीय ज्योतियों के द्वारा नियमानुसार उत्पन्न होता है। शरीर अथवा माता–पिता अथवा जीवधारी उत्पत्ति के ज्ञान अथवा सामर्थ्य से सवर्था अनभिज्ञ रहते हैं। वे अपने शरीर का एक जीवन्त कोश भी बनाना नहीं जानते। विश्व विज्ञान भी कोश से ज़ीन को अलग ही कर पाया है। ज़ीन को उत्पन्न करना सम्भव नहीं है। माता–पिता तथा उनके शरीर केवल निमित्त के रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। शिशु की संरचना यज्ञ के द्वारा ही होती है। उपरोक्त नाम उन अग्नियों तथा आदित्यादिक मरूतगणों के तथा यज्ञीय ज्योतियों के हैं जिनके द्वारा नित्य सृष्टि होती है। अभी छात्र यथा देव अग्नियों से परिचित हो रहे हैं। यह उनकी शिक्षा का आरम्भिक काल है।

प्र वो भ्रियन्त इन्दवो मत्सरा मादयिष्णवः।
द्रप्सा मध्वश्चमूषदः।।3/4।।

प्र पहले भी बारम्बार **वो** तथा सर्वसचराचर **भ्रियन्त** भंवरे की भान्ति, जीवन और मृत्यु के आवागमन में, **इन्दवो** मन इन्द्रियों के वशीभूत **मत्सरा** विषयासक्त **मादय** मादक इच्छाओं लिप्साओं एवं वासनाओं के कारण **इष्णवः** पुनः पुनः जीवन और मृत्यु में भटकता ही रहा है। **द्रप्सा** निचुड़ता रहा जीवन क्षण क्षण बून्दों की भान्ति, **मध्वः** माधुर्य **चमूषदः** इन विषय वासना एवं अतृप्त लिप्सा रूपी सेनाओं के सम्मुख दहन होता रहा। **भोगा न भुक्ता वयमेवभुक्ता !**

जीवन है आवागमन की यात्रा निरन्तर। खोकर जीवन के अमृत क्षण, खो जाता पुनःशरीर, भस्मी में। फिर पाता उद्धार, पाता एक जन्म नया। यज्ञ ही लौटाता मुझे दृश्य जीवन्त सचराचर में। यज्ञ ही देता जन्म नया ग्रहों, सूर्यों, नक्षत्रों, तारा मण्डलों को बारम्बार ! जीव है अनन्त का यात्री, पाना उसे यज्ञ का ज्ञान एवं उत्पत्ति के रहस्य तथा यज्ञ की पूर्ण सामर्थ्य ! अतृप्तियों, वासनाओं से होकर उपराम ! खोजना यज्ञ का रहस्य ! यही है मात्र उद्देश्य मानव योनि का, शेष सब मात्र भटकाव !

ईळते त्वामवस्यवः कण्वासो वृक्तबर्हिषः।
हविष्मन्तो अरंकृतः।।3/5।।

ईळते अद्वैत, योग, जुड़कर, एकाकार होकर **त्वाम्** तुमसे, आत्मयज्ञ से **अवस्यवः** सम्पूर्ण रक्षकों के रक्षक, सचराचर का वहन धारण करने वाले, देवाधिदेव, **कण्वासो** अतिशय निर्मल करने वाले, मेधातिथि काण्वः ऋषि पूज्य, **वृक्त** पवित्र धोकर वृक्त करने वाले **बर्हिषः** यज्ञ के गर्भ कुण्ड जन्मने प्रकट करने वाले, **हविष्यमन्तः** यज्ञ में सांकल्य सामिग्रीवत यज्ञ होने, स्वयं को अर्पित करने की सुमति सद्विवेक प्रदान करने वाले,

सामिग्रीयों के उद्धारक एवं **अरंकृतः** अलंकृत जीवन्त अमर करने वाले, हे यज्ञ आप ही हैं।

छात्र के जीवन को आत्मा तथा आत्मज्ञान से परिपूर्ण कर उसे धरती का अमृत बनाकर परिवार समाज को लौटाने की अदभुत कल्पना हमें गुरूकुल शिक्षा में मिलती है। छात्र; कटी पतंग की भान्ति, एक जन्म जीवन को ही सबकुछ मानकर, अतीत तथा भविष्य की कल्पना से कटा–कटा सा, जीवन को दिशाहीन तथा असंगत न बना बैठे, इसका विशेष प्रभाव हमें इन युगों में मिलता है। आत्म से जुड़कर, प्रकृति के सत्य को पूरी ईमानदारी से अंगीकार करते हुए, स्वयं को निमित्त मात्र मानकर, जीवन को प्रकृति तथा पुरूष के प्रति अर्पित करते हुए, धरती का अमृत बनकर सुखपूर्वक जीना तथा सबके हित में अमृत बनना ही गुरूकुल शिक्षा के परम उद्देश्य में है। यज्ञोपवीत के तीन सूत्रों से सूत्रपात होती शिक्षा अदभुत एवं इकलौती, भारत जाति की महान उपलब्धि है।

घृतपृष्ठा मनोयुजो ये त्वा वहन्ति वह्नयः।
आ देवान्त्सोमपीतये।।3/6।।

घृतपृष्ठा घृत से सिक्त हवन सामिग्री समिधाओं के सदृश्य **मनायुजो** (मनोयुजाः) भक्ति एवं आत्मा में समर्पण सहित जुड़ा सिंचा सा मन **ये** ऐसों को **वहन्ति** वहन धारण करती हैं आप **वह्नयः** हे ब्रह्मज्वाला, यज्ञाग्नि ! **आ** आकर वे ही **देवान्त्** देवत्व अमरत्व का **सोम** अमृत **पीतये** का करते पान ! पाते अमर राह !

सनातन धर्म रूपी सुवासित खिली हुई अमृतमयी वाटिका की पौधशाला के बीज वेदादिक में संकलित हैं। इन्हीं बीजों द्वारा शास्त्रों एवं उपनिषदों में अंकुरित होकर उगते पेड़ और पौधे, पुराणों में प्रकट होते अमृत फल ! जो बीज रूप वेदज्ञान है, वही शास्त्रों एवं उपनिषदादिक में पुष्पित वाटिका है। उन्हीं फलों को पुराण प्रकट करते हैं तथा रहस्यलीला कथायें उन्हीं के निचोड़े रस को पिलाती हैं भक्त समाज को।

जल के भजने से जीव तृप्त नहीं होता, मन सजल आनन्दित नहीं होता। जल पीने से तृप्ति तथा जल में व्याप्त होकर नहाने से ही

आनन्द की अमृत प्राप्ति होती है। जो सांकल्य सामिग्री की भांति आत्मा में सामिग्री से व्याप्त हुए, वे ही पाये अमरपद ! धन्य हुए वे ! जीवन के परम लक्ष्य को पाकर अनन्त में व्याप्त हो अमर हो गये।

तान् यजत्राँ ऋतावृधोऽग्ने पत्नीवतस्कृधि।
मध्वः सुजिह्वपायय।।3/7।।

तान् उन **यजत्राँ** याजकों, यज्ञ को करने वाले तपस्वियों को, **ऋतः** ब्रह्मज्ञान की **वृधाः** वृद्धि करने वाले **अग्ने** हे अग्नि जो आपके प्रति **पत्नीवतः**समर्पित अर्पित भाव (तत्सवितुर्वरेणयम् – गायत्री) से **कृधि** आपको धारण कर चुके हैं। वे आपके द्वारा **मध्वः** मधुर अमृत से **सुजिह्व** अपनी दिव्य जिह्वा द्वारा **पायय** अमृत पान करते अमरपद को प्राप्त हों।

वे याजक, जो आत्मयज्ञ में पूर्ण रूपेण, एकांगी भाव से करते अंतिम समर्पण, जैसे अग्नि के सम्मुख कन्या करती पति का एकांगी वरण एवं समर्पण, वे ही वृद्धि करते अमर आत्मज्ञान की, करते अमृत का दिव्य पान, उनके जन्म होते अमर धन्य !

उपरोक्त सभी ऋचाओं में, वाह्य यज्ञ के सम्मुख, चर्चा मात्र आत्मयज्ञ की ही हो रही है। इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि वाह्य यज्ञ मात्र प्रतीकात्मक है। चर्चा आत्म यज्ञ की ही है। छात्रों को आत्मज्ञान से वरद करने हेतु वाह्य यज्ञ को प्रतीकात्मक उदाहरण स्वरूप दर्शाया जा रहा है। किसी भी ऋचा में वाह्य यज्ञ की प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष भाव में स्वतन्त्र चर्चा नहीं है। वाह्य यज्ञ को आत्म स्वरूप ही प्रतीक रूप ग्रहण किया गया है।

ये यजत्रा य ईड्यास्ते ते पिबन्तु जिह्वया।
मधोरग्ने वषट् कृतिः।।3/8।।

ये जो **यजत्रा** याज्ञिक यज्ञ को आत्मस्थ धारण करने वाले हैं तथा **य** जो **ईडयास्ते** अद्वैत भाव से यज्ञ को अर्पित स्थापित हो गये हैं **ते** वे ही **पिबन्तु** पान करते, यज्ञ के अमृत का **जिह्वया** जिह्वा के द्वारा। **मधोरग्ने** (मधु + अग्ने) हे अग्ने आपके द्वारा प्रदत्त अमृत से **वषट्** नूतन अमर जन्म को **कृतिः** धारण करते हैं।

यज्ञ से ही सचराचर की उत्पत्ति होती है। यज्ञ के द्वारा ही जीव बारम्बार नाना जीव योनियों में जन्म पाता है। यज्ञ के द्वारा ही अमरपद की प्राप्ति होती है। ऐसा हमने सभी प्रचीन ग्रंथों में सहस्त्रों बार पढ़ा है। यही सोचते रहे कि क्या इसी वाह्य यज्ञ के द्वारा ही सबकुछ होता है ? महान गुरूजन, मठाधीश तपस्वी भी हमें हमारे संशयों से उबार न सके। ऋषि मेधातिथि काण्वः किस सरलता से भोले बालकों को यज्ञ का स्वरूप सहज ही स्पष्ट कर रहे हैं, सचमुच विलक्षण है।

आत्मा हमारा ही यज्ञ का अधिष्ठित देव अथवा आचार्य है। प्राणवायु ही यज्ञ का उपाचार्य है। ब्रह्मज्वाला आत्मा की अग्नि ही यज्ञ की ज्वाला है। जीव ही यजमान है। शरीर तथा जीवन का प्रत्येक क्षण सामिग्री एवं सांकल्य है। इसी को वाह्य यज्ञ में, नाटकीय प्रदर्शन हेतु यथा पात्रों तथा सांकल्य एवं सामिग्री सहित, छात्रों को पढ़ाने समझाने के हित में ग्रहण किया गया है। जिस प्रकार शरीर में भोजन तथा जल एवं रसादिक यज्ञ के द्वारा रक्त, मांस मज्जा, शक्ति तथा नूतन शिशु के रूप में पुनः जन्मता है, उसी प्रकार तुम भी पूर्व काल में बारम्बार यज्ञ के द्वारा जन्मे थे। यही उत्पत्ति का मार्ग है। माता–पिता निमित्त मात्र हैं।

आकीं सूर्यस्य रोचनाद्विश्वान्देवां उषर्बुधः।
विप्रो होतेह वक्षति।।3/9।।

आकीम् चहुं ओर फैली हुई ज्योत्सना, सर्वत्र व्याप्त सृष्टि **सूर्यस्य** सूर्य देव के सदृश्य आत्मा रूपी यज्ञ की **रोचनात्** जगमग ज्योतिर्मय एवं जीवन्त मुस्कराती हुई **विश्वान्** (**वि** रहित +**श्वान्** मृत्यु) मृत्यु को परास्त कर पुनः पुनः **देवान्** जीवन्त जागृत झिलमिलाती हुई, **उषः** नये जीवन की नई भोर का **बुधः** बोध कराती **विप्रः** आत्मज्ञानी तपस्वी मनीषी जन **होताः** यज्ञ को करने वाले, यज्ञ से सृष्टि के ज्ञान को प्राप्त करते **इह** (वर्तमान जीवन जगत, इहलोक, इहलीला) इस जीवन जगत को यज्ञमय आत्मवत करते **वक्षति** आलिंगन !

कोई जादूगर है ऐसा विलक्षण ! छू लेता है सड़ी हुई मिट्टी को, चिता की राख को ! जाने कैसे सबकुछ होकर जीवन्त धड़कने लगता है ? कोलाहल और चहक से वातावरण गुँजायमान हो उठता है और सांसों से कल्पनाओं के सागर स्वप्निल संसार मूर्त होने लगते हैं ! खेलता है हर ओर निरन्तर ! यज्ञ ही तो है। यज्ञ ही तो आत्मा बन जीवन्त है, हम सब में ! यज्ञ ही तो वह जादूगर विलक्षण है !

विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना।
पिबा मित्रस्य धामभिः।।3/10।।

विश्वेभिः (**विश्व** मृत्यु से रहित, जीवन्त + **अभि** सम्मुख, अभिमुख, व्याप्त) जीवन में स्थापित व्याप्त, **सोम्यम्** सोम रूपी जीवन ज्योतियों के अमृत (**सोम,** चन्द्रमा तथा उसे निस्सरित ज्योत्सना को भी कहते हैं। एक लता का नाम भी है। वेद में आत्मा से प्रस्फुटित ज्योत्सना को ही सोम अर्थात अमृत कहा गया है। **देव अर्थात आत्मा, सोमरस अर्थात ज्योतियों का ही पान करती है।** इस सहज भाव का भ्रमित अर्थ शराब कालान्तर में कुछ तथाकथित भाष्यकारों ने कर दिया। देव अर्थात आत्मा शराब नहीं, ज्योतियों का ही पान करती है।) का **मध्व** मधूर अमृत **अग्न** ज्योतिर्मय **इन्द्रेण** महान **वायुना** प्राणों तथा मन को आनन्दित करने वाले अमृत को **पिबा** पिलाने वाला ही यज्ञ ही **मित्रस्य** आत्मा रूपी सूर्य के **धामभिः** (**धाम**धाम + **अभिः** सम्मुख, व्याप्त) धाम अर्थात स्वर्गलोक को प्रदान करने वाला है।

पौराणिक कथाओं में, असुर भीषण तप के द्वारा ब्रह्मा को प्रकट कर, वरदान के रूप में अमर होना चाहते हैं। ब्रह्मा जी अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए, उनसे अन्य इच्छित वर मांगने के लिये कहते हैं। यदि ब्रह्मा उन्हें अमर करने में असमर्थ हैं तो सुर क्योंकर अमर हैं ? देवता क्यों अमर हैं ?

सुर जानते हैं अमर के संग, उनकी अमर सत्ता में व्याप्त होकर, सहज ही अमर हुआ जा सकता है। जबकि असुर अमर से अलग होकर, अमर सत्ता बनना चाहता है, जो नितान्त असम्भव है। अमर से कटते ही शेष **मर** रह जाता है। उपरोक्तभऋचायें इसी विचार से संदर्भित हैं। अमर आत्मा के साथ जुड़कर जीना ही योग है। इसी मार्ग

में अमर होने की कल्पना है। यह अदभुत विचार हमें वैदिक वांगमय में ही मिलता है। मित्र अर्थात आत्मा का धाम ही मेरा अंतिम लक्ष्य है। वहीं अमरपद मेरी प्रतीक्षा में है। क्या पहुंच पाऊंगा कभी ?

त्वं होता मनुर्हितोऽग्ने यज्ञेषु सीदसि।
सेमं नो अध्वरं यज।।3/11।।

त्वम् आप ही **होता** यज्ञकर्त्ता, यज्ञ के द्वारा न्यौछावर करने वाले **मनुर्हिता** (**मनु** काल, समय + **हिता** हित चाहने वाले, परम् हितैषी हैं, हे **अग्न** यज्ञ की अग्नि, ब्रह्मज्वाला, **यज्ञेषु** यज्ञों में व्याप्त होकर **सीदसि** स्थापित होकर काल का भी कल्याण करने वाले ! **सेमम्** यूँ इस प्रकार, ऐसे ही यज्ञ के द्वारा **नो** हमें भी **अध्वरम्** विनाश से रहित अर्थात अमर करें **यज** यज्ञ में।

युक्ष्वा ह्यारुषी रथे हरितो देव रोहितः।
ताभिर्देवाँ इहा वहा।।3/12।।

युक्ष्वा योगस्थ, जुड़कर, बन्धे जुते हुए, मिले मिले से **ह्य** समाधिस्थ, अर्चन, वन्दन, अर्पण में समर्पित **आरूषी** रक्ताभ आभा, चमकते ज्योतिर्मय, भीतर बाहर जगमग **रथे** वाहन, शरीर **हरिताः** का हरण त्याग करते हुए, विदेह, **देव** आत्मा अमर का **रोहितः** आरोहण वरण अद्वैत करते हुए (हम याजक) **ताभिः** अमर दीप्तियों में व्याप्त **देवाँ** अमर देव योनि में **इहा** इहलोक मृत्युलोक से **वह** देवत्व में वहन हों।

तीसरे सूक्त का समापन है। जीवन के सूक्ष्म तन्तुओं की खोज, जिसका आरम्भ हमने **ज्योतिर्वेद के विभिन्न सोपान** नामक शोध यात्रा से आरम्भ किया, उसी की धारा में हम ऋग्वेद में प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा से प्रवेश पाये हैं। अब ऋग्वेद के आरम्भ के दूसरे ऋषि के पाठ में हैं। आधुनिक विज्ञान एवं आधुनिक शिक्षा जीवन का उद्गम शरीर से परे, अपने से बाहर, दूर ही खोजती है। जबकि वेद के प्रथम तथा द्वितीय ऋषि के अभी तक के तीनों सूक्त जीवन को शरीर के भीतर आत्मा में ही खोजते से लगते हैं। दो सर्वथा विपरीत धारायें हैं।

अतीत के युगों के महा वैज्ञानिक ऋषियों के ज्ञान को कोरी धर्मान्धता कहकर ठुकरा देना वेद के साथ ही विज्ञान का भी अनादर करने जैसा है। साक्ष्य एवं प्रमाणों को समय देना है कि वे अपने मत को सहज

स्पष्ट करें। सचराचर क्या है ? किसके द्वारा है ? जीवन की उत्पत्ति के साथ ही ग्रहों, नक्षत्रों की उत्पत्ति के रहस्य क्या हैं ?

वेद की ऋचाओं का केवल शब्दार्थ भाष्य, निरूक्त, निघन्टु, अमरकोश तथा वैदिक शब्दकोश की मर्यादा सीमा में ही दे रहा हूँ। विस्तृत भाष्य करने की अवस्था में सम्भव है कि हम ऋषि के स्थान पर अपने स्वार्जित भाव ही थोपने लग जायें। यज्ञ के सही भाव न स्पष्ट होने के कारण पूर्व के विद्वान वाह्य यज्ञ को यज्ञ समझ बैठे हों, इसलिये वेद के प्रति विज्ञान की धारणा संकीर्ण रही हो। हमें धैर्यपूर्वक, तटस्थ भाव से इनकी विवेचना, इनकी ही मर्यादा सीमा में करनी होगी। निर्णय की अवस्था सबकुछ भली प्रकार शोध के उपरान्त ही सम्भव हो सकेगी।

हरि ऊँ! नारायण हरि !

चतुर्थ सूक्तम् !

इन्द्र सोमं पिब ऋतुना त्वां विशन्त्विन्दवः।
मत्सरास्तदोकसः।।4/1।।

इन्द्र हे महान यज्ञ ! **सोमम्** सोम रूपी अमृत जीवन ज्योतियों का **पिब** पान कराकर **ऋतुना** अमर पद देने वाले **त्वाम** आप **विशन्ति** अतिशय मनोहर सुन्दर मंगलमय एवं **वन्दवः** वन्दनीय देवत्व को प्रदान करने वाले हैं। **मत्सर** असत्य, अज्ञान, मत्सर आदि का **अस्तः** विनाश करने वाले **ओकसः** आश्रयदाता हैं। जीव का आश्रयदाता आत्मा रूपी यज्ञ ही है। आत्मा के यज्ञ से ही अमृतमय जीवन की प्राप्ति है। शरीर एवं मनोहर रूप का दाता भी आत्मा ही है। सत्य का ज्ञान दाता तथा असत्य अज्ञान को विनाश करने वाला आत्मयज्ञ ही है। देव योनियों में नित्य वास करवाने में आत्मयज्ञ ही समर्थ है। आत्मा ही मोक्षदाता है।

वाह्य यज्ञ के सम्मुख याजक सांकल्य एवं सामिग्री की आहुतियां भले ही बाहर ही दे रहे हैं, परन्तु प्रत्येक ऋचा में वे स्तुति वन्दन आत्मा रूपी घट घट वासी यज्ञ की ही कर रहे हैं। उनका अर्पण समर्पण आत्मा रूपी यज्ञ के प्रति ही है। वाह्य यज्ञ को आत्मा का ही प्रतीक मानते हुए, वाह्य यज्ञ का प्रतीकात्मक सहयोग ही लिया गया है।

मरूतः पिबत ऋतुना पोत्राद् यज्ञं पुनीतन।
यूयं हि ष्ठा सुदानवः।।4/2।।

आत्मा आचार्य के साथ ही **मरूतः** अति बलवान प्राणवायु **ऋतुना** अमर आत्म यज्ञ के द्वारा **पिबत** पिलाता है जीवन का अमृत और बनाता हमें यज्ञ के द्वारा **पोत्रात्** वज्रदेह, सौष्ठव एवं बलशाली शरीर **यज्ञम्** यज्ञ के द्वारा **पुनीतन** पुनीत पवित्र एवं बलिष्ठ ! **यूयम्** हम सब याजक **हि** अन्तः हृदय से देह में **ष्ठा** (स्थः) व्याप्त **सुदानवः** ऐसे महादानी का नित्य ध्यान एवं अर्चन, पूजन, एवं आभार करें।

यज्ञ के सम्मुख छात्र जीवन यज्ञ के रहस्य अमृत को ग्रहण कर रहे हैं। इससे पूर्व वे आत्मयज्ञ के विषय में कुछ भी नहीं जानते हैं। वे तो बस इतना ही जानते हैं कि उन्हें माता–पिता ने जन्म दिया है तथा वे ही उनको बनाने वाले हैं। वे पूर्ण रूपेण उन्हीं के द्वारा हैं तथा उनके ही आश्रित हैं। गुरूकुल उनके भीतर दिव्य चक्षु को खोलकर, उन्हें सहज ही सत्य का दर्शन करवाकर, एक पूर्ण सत्यनिष्ठ जीवन की सार्थक कल्पना से वरद कर रहा है।

आधुनिक युग में बालक तो क्या, माता–पिता भी इस सार्वभौम सत्य से अपरिचित, अनभिज्ञ; स्वयं को ही कर्त्ता, भरतार के दम्भ एवं मिथ्याभिमान की पूरी निष्ठा एवं इस ईमानदारी से जीते हैं कि उनका जीवन ही पूर्ण सत्यनिष्ठ तथा सार्थक है। क्या वेद को गले से नीचे अब उतार पायेंगे वे लोग ? वाह्य जगत तो मात्र निमित्त जगत है ! आत्म जगत ही सत्य जगत है ! यह पहेली अब किसके पल्ले पड़ेगी ? जिन्होने परछांईयों को ही मूल सत्य मान लिया हो, उन्हें आत्मा का नित्य अटल सत्य क्योंकर समझ आने लगा।

अभियज्ञं गृणीहि नो ग्नावो नेष्टः पिब ऋतुना।
त्वं हि रत्नधा असि।। 4/3।।

अभि सम्मुख अथवा व्याप्त होकर **यज्ञं** यज्ञ में **गृणीहि** ग्रहण हुये यज्ञ में **ग्नावा(ग्नावा अथवा ग्नावा**– पाठ भेद से। पत्थर, ग्रहों को धारण करने वाले) मिट्टी पत्थर तथा जड़ प्रकृति **नेष्ट** (न इष्ट) गति अथवा चेष्ठा तथा गन्तव्य से हीन जड़ पदार्थ **पिब** पीकर **ऋतुना** आत्मा के यज्ञ का अमृत जीवन्त हो उठे। भस्मी ने अन्न तथा अन्न से

शिशु का जीवन धारण किया। **त्वम्** तुम हे यज्ञ ! **हि** संबमें व्याप्त **रत्नधा** ऐश्वर्य एवं रत्नो के भण्डार **असि** हो।

जीव के जीवन के अमूल्य क्षण ही रत्नों का भण्डार है। अज्ञानीजन इन्हें तनाव, अतृप्ति, विषयासक्ति तथा भौतिकताओं के असत्य दम्भ में गवां देते हैं। ज्ञानीजन इन्हें आत्मयज्ञ की भान्ति ही आत्मस्थ भाव से यज्ञ करते जीवन के अभीष्ट, अमर देवत्व की सद्गति पाते हैं। धरा की धूल गगन का सितारा हो जाती है।

अग्ने देवाँ इहावह सादया योनिषु त्रिषु।
परिभूष पिब ऋतुना।।4/4।।

अग्ने ब्रह्मज्वाला, यज्ञाग्नि **देवाँ** अमर देवत्व प्रदान करने वाली **इहावह** जीवन जगत को वहन करने वाली **सादया** सारथि सहयोगी के रूप में **योनिषु** जीवन योनियों **त्रिषु** तीनों में त्राण अर्थात उद्धार करने वाली **परिभूष** (**परि** व्यापकता, सम्पूर्ण भाव से **भूष** अलंकृत सम्मानित करना) हमें अलंकृत सम्मानित करें हे ब्रह्मज्वाला **पिब** पिलाकर **ऋतुना** मोक्ष रूपी अमृत।

जीव को उद्धार से पूर्व तीन योनियों से गुजरना होता है। प्रथम, जब उसका देह और वह स्वयं अपनी आसक्तियों के कारण भस्मी से अन्नादिक में, वनस्पतियों के गर्भ से प्रकट होता है। दूसरा जब वह निमित्त माता के गर्भ से प्रकट होता है, शिशु के रूप में ! तीसरा गर्भ पृथ्वी ग्रह की माया का है जिसे उसको आत्मयज्ञ से अर्पित सहयोग के द्वारा पार करना है, आवगमन से मुक्तभहोने के लिये। बिना आत्माद्वैत के कुछ भी कर पाना जीव के लिये सम्भव नहीं है। आत्मयज्ञ की कृपा दया से ही उसका शरीर गन्दी खाद मिट्टी तथा भस्मी से त्राण पाता, पावन, मधुर वनस्पतियों में प्रकट हुआ था, जिसे आत्मयज्ञ हर ओर निरन्तर कर रहा है। उन्हीं वनस्पतियों को माता के गर्भ में आत्मयज्ञ ने ही अन्न से शिशु का रूप प्रदान किया तथा हर ओर नित्य निरन्तर कर रहा है। माता अथवा कोई भी व्यक्ति अपने ही शरीर का एक जीवन्त कोश उत्पन्न करना नहीं जानता है।

पृथ्वी माया के तीसरे गर्भ को पार किये बिना जीव की अवस्था गर्भस्थ शिशु के समान है तथा उसकी सम्पूर्ण गतिविधियां, कल्पनायें,

चेष्टायें स्वप्नवत हैं। यही अवस्था यथार्थ में उसकी सम्पूर्ण उपलब्धियों की है। मरते ही ज्ञान, भौतिक उपलब्धियां, नाते–रिश्ते, सगे सम्बन्धी, सब मिट जाते हैं। सम्पूर्ण अतीत मात्र एक भ्रमित स्वप्न के समान रह जाता है। अगले जन्म में उसे पूर्व जन्म का कुछ भी प्राप्त नहीं होता। सपने किसकी उपलब्धि हो सकते हैं ? तीसरे जन्म को प्राप्त किये बिना पूर्ण जागृति सम्भव नहीं है।

ब्राह्मणादिन्द्र राधसः पिबा सोममृतूँरनु।
तवेद्धि सख्यमस्तृतम्।। 4/5।।

ब्राह्मणात् ब्रह्मज्ञानी याजकों की भान्ति **इन्द** महान यज्ञ **राधसः** ज्योतिर्मय यज्ञाहुतियों द्वारा मथकर उत्पन्न अमृत **पिबा** पान करके **सोमम्** नित्य अमर आत्मज्योति रस **ऋतून** नई अमर सृष्टि की ओर **अनु** अग्रसर हों। **तव** आपकी **इत** ऐसी **हि** अर्न्तव्याप्त यज्ञ के द्वारा **सख्यम्** आत्मस्थ सर्व व्यापक सखा मित्र सम्यक भाव को प्राप्त हो अभेद भाव से **अस्तृतम** अविच्छिन्न भाव से आत्मस्वरूप हो जायें।

जीवात्मा की उत्पत्ति परंब्रह्म आत्मा से है। आत्मा को सम्पूर्ण भाव से तद्रूप अद्वैत हो जाना ही जीवात्मा की पूर्णता है। उसे आत्मा ही होना है। इसी यज्ञ के द्वारा उसे माया के गर्भ से उसी भान्ति उत्तीर्ण होना है जिसप्रकर वह प्रथम दो गर्भ अवस्थाओं को आत्मा के द्वारा सफलता पूर्वक पार कर आया है। यदि वह तीसरी अवस्था अर्थात माया के गर्भ से उत्तीर्ण नहीं हुआ तो उसे पुनः आरम्भ अवस्था (जड़ प्रकृति) मे जाकर नये प्रयास करने होंगे। ऐसा आवागमन बारम्बार तबतक चलता रहेगा जबतक वह तीसरे अन्तिम गर्भ को सफलता पूर्वक पार नहीं कर लेता।

युवं दक्षं धृतव्रत मित्रावरूणदूळभम्।
ऋतुना यज्ञमाशाथे।।4/6।।

युवम् नित्ययुवा, प्रचण्ड **दक्षम** यज्ञ की अग्नियों में **धृतव्रत** अटल नित्य संकल्पित होकर **मित्रावरूण** प्रलयंकर, महा प्रलय काल की अमर ज्वालाओं में **दूळभम्** अति दुर्लभ है मिलना जिनका, ऐसी सूर्यों को उत्पन्न करने वाली **ऋतुना** नित्य अमरता को देने वाली **यज्ञम्** यज्ञ की अमर अग्नियों में **आशाथ** व्याप्त हो जा। यज्ञ के द्वारा तीसरे गर्भ से उत्तीर्ण हो।

क्या यज्ञ के इस स्वरूप की अब कल्पना भी सम्भव हो सकती है ? वाह्य यज्ञ तक आकर सीमित हो गयी, भौतिकताओं को जीवन की मुख्य उपलब्धि, जीवन का मात्रा परम् लक्ष्य मानकर असत्य को दम्भपूर्वक जीने वाली मानव संस्कृति, कैसे अंगीकार कर पायेगी ?

इसी को परम्पराओं में आज भी सहेज कर रखा हुआ है। पैदा होते ही 12 दिन का सूतक लग गया। **जन्मना जायते शूद्राः।** नाल काटने आयी हरिजन दायी। छटी पर्यन्त जच्चा और बच्चा ने उसी के हाथ से खाया। मर गये जब तो इस जन्म का एक दिन अधिक जोड़कर 13 तेरहवीं मनायी गयी। फिर से जन्म काल जैसा सूतक वास कर गया, इस जन्म का एक दिन अधिक जोड़कर। ऐसा क्यों ?

तीसरा यज्ञ जो नहीं कर पाया ! उत्तीर्ण ही नहीं हो पाया। लौट कर जा रहा पुनः उन्हीं कक्षाओं में। तिमाहीं, छमाहीं में पास हुआ भी तो क्या हुआ ? सालाना परीक्षा में फेल, सो पूरी तरह फेल ! फिर से उसी कक्षा में पूरा साल पढ़ना होगा। फिर से उन्हीं मध्य परीक्षाओं को उत्तीर्ण करना होगा। फिर वार्षिक इम्तहान में आना होगा। **शुक्लकृष्णे गतिह्येते जगता शाश्वतेमते। एकयायाति अनावृत्तिमन्यावर्तते पुनः।। श्रीमद् भगवतगीता।**

द्रविणोदा द्रविणसो ग्रावहस्तासो अध्वरे।
देवेषु यज्ञमीळते।।4/7।।

<u>द्रविणोदा</u> परम् ऐश्वर्यदाता, मोक्षदाता <u>द्रविणासो</u> (द्रविणासाः) सम्पूर्ण ऐश्वर्यों को निष्काम भाव से सचराचर पर न्यौछावर करने वाला, <u>ग्राव</u> पत्थर मिट्टी मृत प्रकृति को <u>हस्तासा</u> (हस्तासाः) हस्तान्तिरत करके <u>अध्वरे</u> विनाश से रहित अमर जीवन देने वाला <u>देवेषु</u> देवत्व प्रदान करने वाला है। ऐसे देवाधिदेव <u>यज्ञम</u> आत्मा रूपी यज्ञ से <u>ईलत</u> अद्वैत कर, युक्त हो, व्याप्त हो जा।

ऐश्वर्य, संपत्ति, उपलब्धि की नाना प्रकार से अभिव्यक्ति तथा परिभाषा की जा सकती है। भिखमंगे अपनी उपलब्धि चीथड़ों की गिनती से कर सकते हैं। भौतिक व्यक्ति अपने धन सम्पदा से कर सकते हैं। ज्ञानी विद्वान अपनी विद्वता तथा सम्मान की उपलब्धि से तुलना कर सकते हैं। याजक और तपस्वी जीवन के प्रत्येक क्षण को आत्मयज्ञ के परम्

सुखद, भरपूर आत्म सुख से करते हैं। आत्मा के अमर सुख से वरद होकर प्रत्येक क्षण को आत्मस्थ यज्ञ में, अनन्त की राह में उपलब्ध कर लेना ही सच्ची अमीरी है। शेष सब मन के भ्रम हैं, अनित्य हैं तथा असंगत है। जिसने भस्मी, जड़त्व से दुर्लभ मानव जन्म के जीवन्त अमृत क्षणों से हमें धनी बनाया है, वही सच्ची ऐश्वर्य की उपलब्धि है। मात्रा सम्पदा है, जिसे हम आयु के रूप में खो तो सकते हैं परन्तु उसे उपलब्ध करना अथवा बढ़ाना सहज सम्भव नहीं है। आत्मयोगी मात्रा ही सच्चा धनी है जो आत्मस्थ यज्ञ में इसे अमर कर लेता है। शेष सब दुख, तनाव की निर्धन जिन्दगी जीते, आत्मप्रदत्त ऐश्वर्य को खोते निर्धनतम लोग हैं, निर्धनतम मृत्यु का वरण कर निर्धनतम योनियों में भटने वाले हैं।

द्रविणोदा ददातु नो वसूनि यानि शृण्विरे।
देवेषु ता वनामहे।।4/8।।

द्रविणोदा ऐश्वर्य प्रदाता **ददातु** धारण करायें **ना** हमें **वसूनि** यज्ञनिहित अग्नि, ब्रह्मज्वाला **यानि** जिसका कि **शृण्विरे** वरण करती श्रुतियां सम्पूर्ण वेदों की **देवेषु** अमर देवत्व के लिये **वनाम्** प्रकाशित, स्तुत्य जानी जातीं हैं **अह** अहो!

मोक्ष का वरदान, लीला कथाओं में, श्री ब्रह्मा भी देने में असमर्थता व्यक्त करते हैं। जबकि मुझे मोक्ष से वरद करने वाला यज्ञ मुझमें विद्यमान है। वही मुझे इस दुर्लभ मानव तन में जन्म देकर लाया है। वही प्रत्येक क्षण मेरा लालन पालन कर रहा है। वही बनकर शबरी का श्रीराम, मेरे जूठे भोजन को शबरी सा प्यार देता, यज्ञ के द्वारा मेरे शरीर में रक्त, शक्ति, मांस मज्जा, बुद्धि विवेक, सांसों और धड़कनों का संचार करता मुझे अनासक्त भाव से जीवित रख रहा है।

वही श्रीमदभागवत तथा महाभारत महाकाव्य का घट–घट वासी श्रीकृष्ण है। वह नित्य सनातन अर्थात अजर अमर है। शरीर रथ का सारथि है वह ! जीवात्मा अर्जुन का सखा है वह ! इन्द्रियों की लगामों से जीवन महाभारत महासंग्राम में रथ का रक्षण एवं संचालन मात्रा वही कर सकता है। माता–पिता भी मात्र निमित्त हैं। उससे अद्वैत कर ही जीवन के परम् अभीष्ट की प्राप्ति सम्भव है। आत्मा एवं जीवात्मा ही

लीला कथाओं में नर एवं नारायण युगल हैं। प्रत्येक शरीर में ! प्रत्येक काल एवं युग में !

द्रविणोदाः पिपीषति जुहोत प्र च तिष्ठत।
नेष्ट्रादृतुभिरिष्यत।।4/9।।

द्रविणोदाः (**द्रविणः** = ऐश्वर्य। **दाः**= यज्ञ से उत्पन्न कर प्रदान करने वाले) ऐश्वर्यदाता, आत्मयज्ञ, ईश्वर **पिपीषति** आहुतियों में मथकर, पीसकर **जुहोत** (**जु** सर्वत्र, निरन्तर **होत** यज्ञ सृष्टि) यज्ञों के द्वारा नित्य सर्वत्र सृष्टि को करने वाला **प** प्रमुख, अधिष्ठाता **च** तथा **तिष्ठत** सबमें व्याप्त, प्रत्येक यज्ञ में बैठकर, प्रकट स्थित होकर **नेष्ट्रात** प्रलय काल के सोम याग (यज्ञ) के 16 ऋत्विज आदित्यों सहित, **ऋतु** स्निग्ध देदीप्यमान है, उनमें **अभिः** अभिमुख, सम्मुख, व्याप्त होने की नित्य **इष्यत** कामना कर !

जीवन एक निरन्तर चिरन्तर धारा है, योनि मात्र क्षणिक पड़ाव भर है। जिसके संग आया है, जो तुझे यहां तक लाया है, जो तेरे होने का मात्र कारण है। जिससे प्रकट होता जीवन का प्रत्येक क्षण है तथा जिसके द्वारा अगली यात्रा सम्भव है। तेरे जीवन का मात्र परम् धन है, इकलौती उपलब्धि है। उसे नित्य याद कर। उससे योग कर ! उसमें व्याप्त होने की कामना एवं चेष्ठारत सदा रहे तू !

यत् त्वा तुरीयमृतुभिर्द्रविणोदो यजामहे।
अध स्मा नो ददिर्भव।।4/10।।

यत् जिसप्रकार **त्वा** आप **तुरीयम्** ब्रह्मावस्था, अभेद ब्रह्मावस्था (शूद्र वर्ण को भी तुरीय कहा गया है।) **ऋतुभिः** यज्ञ के द्वारा सम्मुख कराते अर्थात प्रदान करते हैं (जन्म काल में प्रत्येक नवजात को शूद्र माना जाता है। जन्मना जायते शूद्रा) **द्रविणः** उसे सभी प्रकार के ऐश्वर्य (बौद्धिक, शारीरिक, संरक्षण, सौभग्य आदि) **दाः** प्रदान करते हैं। प्रतिक्षण उसके शरीर में **यजाम्** यज्ञ करते हैं **अहे** अहो ! **अध** महा पतन को प्राप्त हो गये हमारे अतीत मृत्यु की गोद में गिरे हुए **स्मा** स्थापित **नो** हमलोगों को **ददिर्** दया कृपा करके **भव** पुनः प्रकट करते हैं, फिर मानव रूप में जन्मते हैं, उसी प्रकार जो आपको ही सर्वस्व

समर्पित भाव से आत्मयज्ञ में जीवन की आहुति देते हैं उन्हें देवत्व में ब्रह्मस्वरूप देव योनि प्रदान करते हैं।

यज्ञ के द्वारा उत्पति की कल्पना अतीत के युगों की इकलौती अनूठी है तथा आधुनिक विज्ञान की दिशा से सर्वथा विपरीत है। सृष्टि के सूक्ष्म तंतुओं के रहस्यों का अनावरण करती, तंतु तंतु बटोरती, सहेजती, उन्हें सृष्टि क्रम में जोड़ती, अपने अन्तर्देह में निरन्तर हो रही सृष्टि में अपने होने के विज्ञान का अनावरण करती कल्पना, आधुनिक विज्ञान को न समझ आयी हो तो इसमें आश्चर्य कैसा ?

कस्तूरी कुण्डली बसे ! मृग ढूंढ़े बन माहीं।

यह चूक आधुनिक सम्प्रदायों तथा मठाधीशों से क्योंकर हुई, क्यों वे सब प्रतीकात्मक वाह्य यज्ञ में ही सीमित होकर रह गये, यह विचारणीय शोध का विषय हो सकता है। क्या गुलामी के अन्धे अन्धेरो मे यह विज्ञान सिमट कर रह गया ?

अश्विना पिबतं मधु दीद्यग्नी शुचिवृता।
ऋतुना यज्ञ वाहसा।।4/11।।

अश्विना (**अश्विन** सूर्य, आत्मा तथा **अश्विना** सूर्य की ज्योति) ब्रह्मज्वाला **पिबतम्** पीकर, आत्मसात करके **मधु** अमृत, आत्मयज्ञ से उत्पन्न सोम ज्योति रस **दीद्यग्नी** प्रकाशित करने वाली, बुद्धि एवं विवेक से वरद कर सत्य की राह दिखाने वाली आत्मज्योति **शुचिवृता** पवित्र तपस्वी जीवन को संकल्पित करने की वृति प्रदान करने वाली **ऋतुना** तप की यज्ञ ज्योतियों को **यज्ञ** यज्ञमय होकर उसी प्रकार ध ारण करें जिस प्रकार यज्ञ हम सबको **वाहसा** वहन धारण करता है। जीवन्त कर नित्य निरन्तर हमारी रक्षा करता है।

गार्हपत्येन सन्त्य ऋतुना यज्ञनीरसि।
देवान् देवयते यज।।4/12।।

गार्हपत्येन गृहस्थ धर्म **सन्त्य** मनस्वी सन्त का **ऋतुना** आत्मज्वाला **यज्ञनीः** यज्ञ में निहित जीवन ही **असि** व्याप्त होकर जीना ही है। **देवान्** देवत्व में **देवयते** देवता के सदृश्य होना **यज** यज्ञ के द्वारा मानव योनि का परम् लक्ष्य है।

तत्सवितुर्वरेण्यम् ऐसे सविता स्वरूप आत्मा का वरण करता हूँ। यज्ञोपवीत धारण के समय हमने आत्मा का वरण किया। गृहस्थ तो आत्मा का वरण करते ही हम हो गये। वाह्य जीवन जगत तो नाट्यशाला का निमित्त नाटक मंचन भर ही है। निमित्त पिता, माता, भर्ता, पुत्र, पति, पत्नि, सहोदर ही तो हो सकता हूं। इनमें आत्मा से हटकर मैं हो ही नहीं सकता। जीवन जगत निमित्त धर्म है। आत्म जगत ही सत्य धर्म है। जिसप्रकार राज्य का अधिकारी, देश के राष्ट्रपति का निमित्त होकर ही अधिकारों का प्रयोग करता अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है। उसी प्रकार सचराचर के स्वामी का निमित्त होकर मुझे वाह्य जगत के धर्म को धारण करना है।

गुरूकुल में मन के रीते घट भरते छात्र ब्रह्मचारी, यज्ञ के अमृत से । शिक्षा का ऐसा स्वरूप अब कहॉ ? अपने होने के ज्ञान से शून्य, अपनी ही जड़ों से कटा हुआ, आधुनिक शिक्षा तन्त्र, मानव जाति को **अच्छी नौकरी, मोटी तन्ख्वाह और तगड़ी घूस की आमदनी,** के अतिरिक्त अधिक क्या दे सकता है ? मानव के रूप में कीट सा जीवन ! पशु से भी निकृष्ट स्तर की पीड़ायें, पिशाचों को भी लज्जित करतीं अतृप्तियां और कैंसर के फोड़े से दुखते रिसते जीवन के टपकते से क्षण ! फिर चिता की लकड़ियों पर वापस जाता शरीर प्रकृति में, बन भस्मी ! क्या यही है उपलब्धि ?

गुरूकल से हम आकर गिरे मदरसों में, गुलामी ले गई थी हमें ! मदरसों से हम कान्वैन्ट स्कूलों में फिंकवा दिये गये। अब कभी लौट पायेंगे गुरूकुल की पुनीत भव्यता में ? आज़दी के पचास वर्ष बाद भी हमने अपने अस्तित्व को खोजना नहीं चाहा है। काश ! हम ही हमारे बन पाये होते ! अपनी जड़ों को खोज और जुड़ पाये होते ! हम फिर लहलहाते जीवन्त होकर महकती हवाओं के संग !

अगले सूक्त में प्रवेश करते हैं। ऋषि छात्रों को जीवन का अमृत दर्शन प्रदान कर रहे हैं।

पंचम् सूक्तम्

आ त्वा वहन्तु हरयो वृषणं सोमपीतये।
इन्द्र त्वा सूरचक्षसः।।5/1।।

आ आवाहन **त्वा** आपका **वहन्तु** सचरावर का वहन धारण करने वाले **हरयो** पाप, क्लेष, पीड़ाओं तथा भौतिक भटकावों का हरण करने वाले **वृषणम** सृष्टि उत्पत्ति दाता **सोमपीतये** अमृतमयी आत्मज्योतियों का पान कराकर सचरावर को जीवन्त करने वाले **इन्द** हे अमर महान ! **त्वा** आप ही हैं **सूर** सूर्य, घट–घट में वास करने वाले जगदीश्वर, जगत आत्मा एवं **चक्षसः** जीव को अतीन्द्रिय ज्ञान से वरद करने वाले, दिव्य चक्षु प्रदान करने वाले, दीक्षा गुरू, देवगुरू बृहस्पति।

उपरोक्त ऋचा में आत्मा को ही परमेश्वर के रूप में ग्रहण किया गया है। चक्षस का अर्थ है चक्षु प्रदान करने वाला। कालान्तर में **चक्षु** का प्रयोग **नेत्रों** के पर्यायवाची के रूप में होने लगा, यह सर्वथा भ्रांतिपूर्ण है। आंखों को नेत्रों के रूप में ग्रहण किया गया है। जबकि **चक्षु** अतीन्द्रिय, भीतर की आंख अर्थात ब्रह्मरन्ध्र में व्याप्त है, केवल उसे ही चक्षु नाम संज्ञा प्राप्त है। जो चक्षु को खोलता है अथवा जागृत करता है, उसे चक्षस अर्थात दीक्षागुरू का सम्मान प्राप्त होता है। यह सम्मान केवल बृहस्पति को ही सम्पूर्ण श्रुतियों में प्रदान किया गया है। गुरू और आचार्य शब्द भी पर्यायवाची नहीं है। आचार्य उसे कहते हैं जो श्रेष्ठ जीवन ज्ञान आदि से वरद करे। गुरू उसे कहते हैं जो अन्तःकरण के नेत्र को खोलता, जीव को आत्मा के साथ अद्वैत का योग कराये।

इमा धाना घृतस्नुवो हरि इहोप वक्षतः।
इन्द्रं सुखतमे रथे।।5/2।।

इमा इस प्रकार **धाना** (**धा** धारण करना तथा **ना** हमको) यज्ञ में अंगीकार करें, अग्नि में भूनते जिस भांति **घृत** धारण करते **स्नुवा** सामिग्रीवत अर्पित हवि का **हरि** हरण भस्म करते **इहोप (इह+उप)** वर्तमान स्वरूप को स्वयं मे व्याप्त कर **वक्षतः** आलिंगनबद्ध करते, सीने से लगा लेते। **इन्द्रम्** हे महान **सुखतमे** अतिशय सुखदाता **रथे** जीव के शरीर के। यज्ञ के द्वारा भोजन के रूप में जो स्वयं टपक जाता

अर्पित होता अपने अन्तरात्मा रूपी आत्मयज्ञ में, होकर भस्म पाता जीवन्त रूप नया; रक्त, मज्जा, मांस, सौष्ठव, तृप्ति, होता संतति से वरद जीवात्मा का वाहन, रथ रूपी शरीर। जीवन के सुखद क्षण, भविष्य की झिलमिल सुखद कल्पनाये ! हे महान यज्ञ आप ही करते सम्भव । आपही जीवमात्र के सुखधाम हैं ! सर्वस्व हैं !

इसी प्रकार जीव करता आपसे अद्वैत, होकर अन्तर्मुखी, सामिग्री सा करता स्वयं को आत्मयज्ञ में अर्पित, मनसा–वाचा–कर्मणा, होकर यज्ञ, पाता जन्म एवं रूप नया, अनन्त की राह, अमरपद ! हे यज्ञ ! आप ही ऐसा कर सकने में समर्थ हैं। आपसे ही होता जीवन्त सम्पूर्ण सचराचर बारम्बार, ग्रहण करता फिर फिर जीवरूप एवं जन्म नया। आप ही धाता हैं ! आप ही विधाता हैं। आपसे आलिंगनबद्ध हो जीव पाता अमरपद ! आप जीवमात्र के अमर सुख हैं। जीवन के परम् लक्ष्य हैं।

जीवन के सूत्र खोजती सनातन धर्म की यज्ञ की जीवनजयी कल्पना !

इन्द्रं प्रातर्हवामहे इन्द्रं प्रयत्यध्वरे।
इन्द्रं सोमस्य पीतये।।5/3।।

इन्द्रम् हे महान यज्ञ ! **प्रातः** जीवन के प्रारम्भ से जीवन की प्रथम भोर से **हवाम** यज्ञों के द्वारा **अहे** अहो **प्रयत** निरन्तर यज्ञों के द्वारा पुष्ट जितेन्द्रिय **अध्वरे** विनाश से रहित निरन्तर जीवन्त करने वाले **इन्द्रम** महान **सोम** जीवन ज्योतियां **अस्य** ऐसी इसप्रकार **पीतये** पान कराने वाले आप हैं। जीव का सर्वस्व, हे आत्मयज्ञ ! आप ही हैं।

सृष्टि के रहस्यों को, निरन्तर जहां सृष्टि हो रही, वहीं जा कर खोजने की अद्भुत कल्पना ही वेद के यज्ञ हैं। प्रत्येक ऋचा निरन्तर उसी यज्ञ का गान कर रही है। वाह्य यज्ञ की चर्चा अभी तक किसी भी ऋचा में नहीं आयी है। इससे भी स्पष्ट हो जाना चाहिये कि वाह्य यज्ञ मानव शरीर की भांति निमित्त यज्ञ है। मूल यज्ञ आत्मा ही है। जिसप्रकार शरीर ही जीव की पहचान, परिचय आदि प्रदान करता है, उसी प्रकार वाह्य यज्ञ को शरीर की भांति जानना चाहिये। शरीर का स्थायित्व आत्मा के बिना असम्भव है, उसी प्रकार आत्मयज्ञ के बिना वाह्ययज्ञ निर्जीव जानना चाहिये।

वेद के वैज्ञानिक ऋषि सत्य को वहीं जाकर खोजने में विश्वास करते हैं जहां सत्य प्रकट, जागृत तथा क्रियाशील है। उत्पत्ति को, क्रियाशील उत्पत्ति में ही जाकर, सन्देहरहित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है। मृत देह, जीवन्त व्यक्ति का आभास भर भी तभी दे सकती है, जब आपने ऐसे ही जीवन्त व्यक्तियों को जीवन में क्रियाशील देखा हो। आत्मयज्ञ में सृष्टि की खोज, कुछ ऐसी ही है कि जैसे कोई क्रियाशील सृष्टि में जाकर उसके रहस्यों का सूक्ष्म दर्शन करना चाहे। क्या आप इसे एक पूर्ण वैज्ञानिक खोज नहीं मानेंगे ? क्या आप इसे कोरी धर्मान्धता कहेंगे ? तो फिर आप अपने को क्या कहेंगे ?

उप नः सुतमागहि हरिभिरिन्द्र केशिभिः।
सुते हि त्वा हवामहे।।5/4।।

उप व्याप्त होकर **नः** हम **सुतम्** निचुड़ गये **आगहि** आकर आत्मज्वालाओं में सामिग्रीवत **हरिभिः** हरण व्याप्त मिटने हेतु **इन्द्र** महान यज्ञ **केशिभिः** तन्तु तन्तु, रोम–रोम, कण कण में विसर्जित विलय प्रलय हेतु हम व्याप्त यज्ञ हुये। **सुते हि** प्रकट किया पुत्र के रूप में, नवजात शिशु के रूप में अपने यज्ञ रूपी हृदय से **त्वा** आपने **हवाम** यज्ञ के द्वारा आपने **अहे** अहो !

यज्ञ ही, भस्मी में लोट लिपट गये मानव शरीर को पुनः जीवन्त नवजात स्वरूप प्रदान करता है। यहां पर माता अथवा पिता मात्र निमित्त पात्रों की भांति हैं। वे केवल उत्पत्ति में निमित्त सहयोगी भर हैं। इससे पूर्व, इसी प्रकार, पेड़ पौधे एवं वनस्पतियों ने निमित्त होकर, उसे भस्मी से अन्नादिक में उभारा था। उसे बनाने में पांचों तत्वों, क्षिति. जल. पावक. गगन. समीर, का योगदान है। ग्रहों, नक्षत्रों, सूर्य, आकाशगंगाओं के अंशों का समावेश है। वह सम्पूर्ण सचराचर की संतति है। उसपर किसी एक व्यक्ति अथवा दम्पत्ति का एकाधिकार किस प्रकार हो सकता है ?

सेमं नः स्तोममा गह्युपेदं सवनं सुतम्।
गौरो न तृषितः पिब।।5/5।।

सेमम् यूँ इसप्रकार, जैसे, उदाहरणार्थ, **नः** हम सब लोग **स्तोममा** उत्पन्न तो आत्मयज्ञ में होते हैं तथा **गह्युपेदम** (गह्य+उप+इदम्) ग्रहण व्याप्त इस भांति आत्मयज्ञ में ही होता है एवं **सवनम्** सवन स्नान

(जन्म के उपरान्त जातक को पवित्र करने का स्नान, सौर स्नान, को सवन कहते हैं। विवाह से पूर्व, वर के जल से वधु को कराया गया स्नान भी सवन कहलाता है। यज्ञ से पूर्व सामिग्री को पवित्र करने का स्नान सवन कहलाता है। गर्भ धारण से पूर्व तथा ऋतुकाल के उपरान्त स्नान को सवन कहते हैं। मृत्योपरान्त चिताग्नि से पूर्व शव को कराया गया स्नान सवन कहलाता है।) आत्मयज्ञ में जीव सुतम उत्पन्न होकर पाता है। वाह्य स्नान अर्थात सवन तो **गौरो न तृषितः पिब** मृगतृष्णा की भांति हैं। रेगिस्तान में प्यासे भागते मृग की अवस्था भर है। जो सदा प्यासा ही मरता है। तृष्णाओं का तो अन्त नहीं है। जितना पिये, उतना अधिक प्यासा।

ऋषि द्वारा प्रस्तुत ऋचा आत्मयज्ञ तथा आत्मजगत के साथ ही वाह्य यज्ञ तथा वाह्य भौतिक जगत के भेद को सन्देहरहित रूप स्पष्ट कर रही है। **कस्तूरी कुण्डली बसे, मृग ढूंड़े बन मांहीं !** उस यज्ञ का क्या प्रयोजन जो वाह्य औपचारिकता भर बनकर रह जाये ? जिसका अन्तर्भूत ज्ञान आचार्य अथवा यजमान जानते ही न हो ?

इमे सोमास इन्दवः सुतासो अधिबर्हिषि।
ताँ इन्द्र सहसे पिब।।5/6।।

इमे इसी भांति **सोमास** सोम रूपी जीवन अमृत की ज्योतियों से युक्त होने **इन्दवः** महान दीप्तियों को वहन धारण करने के लिये (हे आत्मस्थ योगी) **अधिबर्हिषि** आत्मकुण्ड के गर्भ में प्रवेश पाकर यज्ञ के सम्मुख, स्वयं जीव रूप यजमान बनकर स्थापित हो। **ताँ** उन **इन्द्र** महान आत्मयज्ञ में **सहस** सुखपूर्वक साहस सहित उन आत्म ज्योतियों **पिब** का पान कर।

जिन खोजा तिन पांईयां, गहरे पानी पैठ !

बर्हिषि, वस्तुतः, गुरूकुल में यज्ञकुड के भीतर केन्द्र में एक गहरा पाताल कुण्ड बनाते थे। यह काफी गहरा सुविधानुसार बनाया जाता था। यह माता की देह में गर्भगृह के समान है। यज्ञ से पूर्व इसमें भोज्य सामिग्री यथा ढक कर रख दी जाती जाती थी। उसके उपरान्त ब्रह्मचारी यज्ञ का अनुष्ठान करते वाह्य यज्ञाहूतियों द्वारा आत्मस्थ भाव

को अर्पित होते, वेद का पाठ करते रहते। यज्ञ के समापन के उपरान्त, यज्ञ के गर्भगृह में रखे पात्र को निकाल कर प्रसाद ग्रहण करते थे। यज्ञ के गर्भकुण्ड में अभिमन्त्रित खीर अथवा भोग पदार्थ को भी प्रतीकात्मक रूप से सोमरस कहते थे। सोम अथवा सुरा शब्द का प्रयोग इसी भोग प्रसाद के लिये ही लक्ष्यार्थ होता था। इन शब्दों का शराब का पयार्यवाची कहना घोर अन्याय, पाप एवं अपराध है।

आत्मा में व्याप्त होकर ही जीव पूर्ण अनन्त तृप्ति पाता, जीवन के अभीष्ट लक्ष्य, मोक्ष को प्राप्त करता, सदा सदा के लिये आवागमन से मुक्ति पाता है।

अयं ते स्तोमो अग्नियो हृदिस्पृगस्तु शंतमः।
अथा सोमं सुतं पिब।।5/7।।

अयम् यूँ, यहां आकर **ते** तुम्हारे, ऐसे **स्तोमो** आत्मयज्ञ की **अग्नियो** ब्रह्माग्यिों में **हृदिस्पृगस्तु** (हृदिस्पृः+अस्तु) हृदयंगम समाधिस्थ स्थित होकर **शंतमः** अनन्त मंगल शांति, तृप्ति पाये जो **अथा** ऐसे यज्ञ की **सोमम्** अमृत यज्ञ ज्योतियों में **सुतम** निचुड़कर, व्याप्त होकर **पिब** अमृत पान किया उन्होंने। अमर हुए वे !

वेद की धारायें प्रत्येक ऋचा में अन्तरमुखी होती, अदृश्य परन्तु नित्य सत्य, आत्मयज्ञ की ओर इंगित करती हैं। जीवन की उत्पत्ति के अदृश्य गूढ़ रहस्य अनायास ही गुरूकुल के बालक ब्रह्मचारियों को स्पष्ट होने लगते हैं। वे विस्मित भी हैं, स्तब्ध भी हैं। क्या सत्य के विलोम भी सत्य हो सकते हैं ? अभी वाह्य जगत ही उनका सत्य जगत था। वाह्य जगत के माता पिता को ही वे पूर्ण रूपेण सृष्टा जनक के रूप में जानते थे। इससे आगे तो उनकी कोई कल्पना भी नहीं थी। अचानक वे सारी मान्यतायें हिलने लगीं हैं। वे सब श्री हरि अर्थात आत्मयज्ञ के निमित्त पात्र हैं। सत्य तो केवल आत्मयज्ञ ही है। जिसे पूर्व में वे जानते ही नहीं थे। यज्ञ के नाम पर उन्होंने वाह्य यज्ञ को ही जाना था। अब वाह्य यज्ञ भी निमित्त मात्र बनकर रह गया है।

विश्वमित्सवनं सुतमिन्द्रो मदाय गच्छति।
वृत्रहा सोमपीतये।।5/8।।

विश्वम् इत सवनम ({ वि = रहित, विगत।श्व = मृत्यु) मृत्युन्जय आत्मयज्ञ के सवन स्नान में पवित्र होकर इस भांति **सुतम** उत्पन्न, जन्म धारण करता **इन्द्रः** महान अतुलनीय **मदाय** अमृत आनन्द में **गच्छति** जाता, वास करता है **वृत्रहा** (वृत्रा = अन्धकार, अज्ञान, भटकाव, काले घुमड़ते अन्धेरे फैलाते बादल, वृत्रासुर नामक राक्षस। हा = हन्ता, मारने वाला। वृत्रहा इन्द्र की उपाधि है) असत्य, अज्ञान एवं आवागमन के भटकावों को मिटाते हुए **सोमपीतय** अमृत का पान करते नित्य अमर अवस्था को पाते हैं।

निमित्त जगत में सबकुछ निमित्त मात्र ही है। वाह्य सवन स्नान भी, आत्मज्योतियों के अमृत सवन स्नान का निमित्त स्वरूप भर है। हम सब अपनी सभी अवस्थाओं एवं तथाकथित उपाधियों में भी निमित्त भर ही होते हैं। माता पिता, पति, पत्नि, पुत्र, पुत्री, मित्र शत्रु, राजा, रंक, मकान मालिक अथवा सम्पत्ति का स्वामी होना मात्रा निमित्त भाव है। यहां तक कि जीवन एवं मृत्यु भी निमित्त भर है।

निमित्त मात्र भव सव्य साची !

(श्रीमद्भगवतगीता में श्रीकृष्ण का अर्जुन को उपदेश)

सनातन धर्म रूपी अमर वाटिका का अनन्त बीज भण्डार वेद ही हैं। जो सूक्ष्म रूप से इन ऋचाओं में सत्य रूप में समाया हुआ है, उसी का विस्तार उपनिषद, पुराण, लीला ग्रन्थ, शास्त्र तथा उपवेद एवं संहितायें करती हैं। भेद कहीं नहीं है।

सेमं नः काममा पृण गोभिरश्वैः शतक्रतो।
स्तवाम त्वा स्वाध्यः।।5/9।।

सेमम् (स इमम्) यूँ इस प्रकार **नः** हमलोग **काममा** कर्म एवं कामनाओं को **पृण** निमित्त भाव से पूर्ण करते हुए **गो** ज्योतियों के **अभिः** सम्मुख साक्षात्कार **अश्वैः** अजर अमर हैं जो, तथा **शतक्रता** सचराचर को नित्य निरन्तर प्रकट करने वाले आत्मयज्ञ के निमित्त जीवन को धारण, **स्तवाम** प्रत्येक कर्म, चेष्ठा को आत्मयज्ञ की स्तुति के रूप में **त्वा** तुम (याजक) **स्वाध्यः** आत्मस्थ धारण करें। अर्थात

जीवन जगत कर्म सबकुछ आत्मयज्ञ के निमित्त होकर ही धारण करें। ऐसा करना ही धर्मसंगत है।

वेद एवं भौतिक जीवन एक दूसरे का विपरीत बन बैठे हैं। अथवा यूँ भी कह सकते हैं कि वेद के ज्ञान के लुप्त होते ही धरती का प्राणी अपनी पहचान भी खो बैठा है। ऐसा करके क्या धरती का मानव सुखी हुआ ? मानव की योनि आत्मयज्ञ के निमित्त होकर प्राणीमात्र की सेवा के लिये है। मानव अपने पिता परमेश्वर के बाग का माली है। प्राणीमात्र की निमित्त समर्पित सेवा ही उसका सच्चा सुख एवं धर्म है। इसके विपरीत प्रेत, पिशाच, एवं असुर का धर्म सबको सबको नोचकर अपने सुखों का विस्तार करना है। सबको पीड़ा, भय, आतंक देकर एवं सताकर अपने हित साधन करना है।

वेद के रहस्यों के अनावरण के समय हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि इन्हें गुरूकुल के छात्र आरम्भिक शिक्षा में धर्म के रूप में ग्रहण कर रहे हैं। इन्हें छात्रों की मानसिकता के स्तर के अनुरूप ही ऋषि आत्मयज्ञ का ज्ञानामृत पान करवा रहे हैं। ऋग्वेद के दस मण्डल हैं। यह सम्पूर्ण गुरूकुल शिक्षा के लगभग 15 वर्षों का सम्पूर्ण पाठ्यक्रम है। आत्मयज्ञ का वेद है। इसी के साथ निमित्त वाह्य जगत के निमित्त धर्म–कर्म का वेद, यजुर्वेद है। इसे कर्मकाण्ड की संज्ञा प्राप्त है। यह वाह्य निमित्त धर्म तथा आन्तरिक धर्म की मर्यादा है। आत्मयज्ञ के निमित्त रहते हुए किसप्रकार आत्मा के निमित्त होकर जीवन जगत को धारण है, छात्र इस वेद में पायेंगे। जीवन यहीं तक सीमित नहीं है। गृहस्थ धर्म के उपरान्त उसे वानप्रस्थ धर्म को प्राप्त होना है इसका विस्तृत ज्ञान उसे सामवेद में मिलेगा। उसे प्राणी मात्र से अभेद साम्य भाव रखते हुए, सचराचर की आत्मनिमित्त सेवा करनी है। सामवेद में छात्र वानप्रस्थ धर्म को सन्देहरहित रूप से जानेगे। इसके उपरान्त अथर्ववेद उनके जीवन के संन्यास धर्म का सत्य पथप्रदर्शक बनेगा। जीवन सम्पूर्ण ही गुरूकुल शिक्षा का पाठ्यक्रम है।

आधुनिक शिक्षा पद्दति में शिक्षा सूत्र छात्र अथवा उसका जीवन है ही नहीं। वह कौन है ? उसका सचराचर से क्या सम्बन्ध है ? वह किस प्रकार मानव रूप में जन्म लेता है ? उसके जीवन के प्रकृति एवं पुरूष

प्रदत्त मूल उद्देश्य क्या हैं ? वह क्यों जन्मता है तथा क्योंकर उसे अनिवार्य रूप से क्योंकर मरना पड़ेगा ? आदि। कुछ भी आधुनिक शिक्षा में नहीं है। यहां तक कि मानव जीवन और प्रेत जीवन के भेद को भी अब वह नहीं जानता है।

अगले सूक्त में प्रवेश करते हैं।

।।षष्ठम् सूक्तम्।।

इन्द्रावरूणयोरहं सम्राजोरव आ वृणे।
ता नो मृळात ईदृशे।।6/1।।

इन्द्रावरूण इन्द्र और वरूण आदि सम्पूर्ण यज्ञ के आदित्य **सम्राजोः** उनका साम्राज्य अनन्त आकाश क्षीरसागर आदि भी **अव** इसी यज्ञ से प्रकट होते हैं। इनका **वृणे** वरण भी आत्मस्थ होकर आत्मयज्ञ में **आ** आकर करें। **ता** उनको **नो** हम अपनी आत्मा में आकर आत्मस्थ **मृळात** अमर मिलन करें तथा **ईदृशे** उनसे आत्मा में अद्वैत हो।

वह सबकुछ दिखता है बाहर, उसका भी उद्‌गम आत्मयज्ञ ही है। मेघों का राजा इन्द्र तथा क्षीरसागर रूपी अथाह जल का स्वामी, जिसे हम भजते हैं बाहर, ये सब सृष्टि के अंग सूक्ष्म होकर आत्मयज्ञ में निरन्तर वास करते हमें जीवन के अमृत रस से वरद करते हैं। सम्पूर्ण सचराचर का सूक्ष्म, पूर्ण स्वरूप, आत्मयज्ञ में समाहित होकर हम सबमें वास करता है। जीव की पूर्णता उसका आत्मयज्ञ में ही है। हम सब उनका वरण, अपनी आत्मा में करें तथा उनसे अद्वैत करते मानव योनि की पूर्णता को प्राप्त करते अनन्त को प्राप्त हों। इन्द्र मन का स्वामी है, हमारा मन है। वरूण मस्तिष्क के क्षीर सागर में श्वेत जीवन जल की उत्पत्ति करता है। वायु देव हममें प्राणें का संचार करता है। इसी प्रकार सूर्य ज्योति का संचार करते हैं। इन्हें आत्मस्थ होकर आत्मयज्ञ में ही प्रसन्न करें तथा इनसे अद्वैत करते जीवन धन्य करें।

गन्तारा हि स्थोऽवसे हवं विप्रस्य मावतः।
धर्तारा चर्षणीनाम्।।6/2।।

गन्तारा गन्तव्य की निष्ठा लिये **हि** अपने अन्तर्हृदय में प्रवेश **स्थाः** स्थापित होकर **अवसे** उत्पत्ति सृष्टि के **हवम्** यज्ञ के ज्ञान एवं सामथ्य **विप्रस्य** अटल एवं एकाग्र मन से **मावतः** आत्मसात कर लें, मथ डालें,

रोम रोम में बसा लें। **धर्त्तारा** सबको धारण करने वाले आत्मयज्ञ से **चर्षणीनाम** अद्वैत धारण विचरण तथा एकात्मता को प्राप्त हों।

निरन्तर यज्ञ के द्वारा उत्पत्ति के रहस्यों को हम कहां पर सहज होकर सरलता से निसन्देह होकर ज्ञान एवं सामर्थ्य सहित ग्रहण तथा अभ्यास कर सकते हैं ? अपने ही शरीर में ! किसी दूसरे के शरीर में हमारा प्रवेश इतना सहज नहीं हो सकता। यदि हम ऐसा करने में समर्थ हो भी जायें तो पूरी सम्भावना है कि उसके जीवन यज्ञ की ही इति हो जाये। यज्ञ की प्रक्रिया ही समाप्त हो जाये। वाह्य यज्ञ, साधना, ध्यान, तप, समाधि तथा समर्पित योगाद्वैत के द्वारा अपने ही अन्तःकरण में प्रवेश कर यज्ञ के यजमान बन जीवन को इतनी सूक्ष्मता और सामीप्य से जानने की वैदिक कल्पना विलक्षण एवं इकलौती है। जब मेरे शरीर में निर्माण की प्रक्रिया निरन्तर है तो मुझे बाहर भटकने का क्या प्रयोजन ? क्यों न अपने भीतर जाकर जीवन के सूक्ष्म रहस्यों को जानने तथा इस प्रक्रिया को कर सकने की सामर्थ्य को खेज लूं। अनासक्त तटस्थ वाह्य जीवन ही तो मेरा वाह्य धर्म है। मात्र निमित्त ही तो हूं। निमित्त वाह्य धर्म का कोई तो स्वधर्म भी होगा। क्या मुझे अपने उस धर्म को नहीं जानना चाहिये जहां मैं निमित्त भर ही नहीं हूं ?

अनुकामं तर्पयेथामिन्द्रावरूण राय आ।
ता वां नेदिष्ठमीमहे।।6/3।।

अनुकामम कामनाओं की पूर्ति हेतु **तर्पः** तर्पण, अर्पण, समर्पण करो **यथाः** सभीप्रकार से **इन्द्रावरूण** यज्ञ की अमर अग्नियों में, प्रलय के आदित्यों के सम्मुख, मन, प्राण एवं संकल्प सहित **राय** शीघ्रता से, तत्क्षण **आ** आकर। **ता** तब उनमें **वाम** सगं, संयुक्त, वामांग **नेदिष्ठम्** इष्ट में व्याप्त, अद्वैत, एकाकार **ईमह** ज्योतिर्मय जगमगाते हुए।

जीवन एक ऐसी रहस्यमय पहेली है जिसका हल विपरीत दिशा में खोजने पर ही मिलता है। बाहर निकलने के लिये और अधिक अपने भीतर पैंठना होता है। जितना गहरे उतरो, उतना ही निकास के समीप हो। जितने गहरे लिपटो, उतने ही उद्धार को पाओ। बाहर भागने वाला यहां बुरी तरह फंस जाता है। जन्म जन्म भटक जाता है। अपने ही

भीतर गहरे व्याप्त होने वाला, वाह्य जगत से निमित्त विरक्त भाव रखने वाला, सहज ही छूट जाता है। अमरपद पाता है।

युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमतीनाम्।
भूयाम वाजदान्वाम्।।6/4।।

युवाकु वचनबद्ध, संकल्पित **हि** आत्मस्थ हृदय में **शचीनाम्** वाणीबद्ध (पाठभेद – शुचीनाम् जिसका अर्थ पवित्रता से है) **युवाकु** संकल्पित **सुमतिनाम** दिव्य मति अर्थात दिव्य बुद्धि एवं विवेक सहित हम **भूयाम** उत्पन्न हों, उत्पत्ति को प्राप्त हों **वाजदान्वाम** सामिग्रीवत अर्पित होकर, यज्ञ में व्याप्त होकर।

उपरोक्त ऋचाओं में प्रत्यक्षतः इन्द्र एवं वरूण की स्तुति छात्र कर रहे हैं। अपने जीवन में, देह में तथा आत्मयज्ञ में उनके महत्व, अवस्था तथा भाव स्पष्ट कर रहे हैं। निमित्त वाह्य यज्ञ के संयोग से आत्मयज्ञ के रहस्य स्पष्ट कर रहे हैं। यह उनकी गुरूकुल शिक्षा का आरम्भ काल है।

वाह्य धर्म तो निमित्त धर्म है। वे न तो जीवन का एक क्षण बना सकते तथा न ही अपने तन का एक तन्तु भी। नैमित्तिक धर्म का कहीं स्वधर्म भी तो होना वाहिये। अन्यथा उनका मानव योनि में आने का क्या प्रयोजन ? जीवन में उन्हें केवल नाटक की पात्रता भर ही जीना है। असत्य, अज्ञान एवं दम्भ की अवस्था को प्राप्त होकर भले ही वे मान लें कि वे ही विधाता हैं, परन्तु जीवन के अटल सत्य बदल तो नहीं सकते। जीवन नाट्यशाला में वे मात्र कलाकार की पात्रता भर ही तो जी रहें हैं। प्रत्येक सांस के भिखारी, प्रत्येक धड़कन भीख में पाते हुए !

मंच के कलाकार का, मचं से हटकर भी अस्तित्व होता है। उसका घर, परिवार तथा सम्पूर्ण जीवन भी होता है। नाते, रिश्ते, समाज सभी कुछ पात्रता के अतिरिक्त भी होता है। मेरा कौन सा स्थान है तथा मैं कौन हूं ? पात्रता के अतिरिक्त मेरा कोई स्व सत्य धर्म और अवस्था तथा पहचान भी है ? जहां मैं निमित्त नाटक की पात्रता भर ही नहीं जीता हूं। जहां मैं, मैं हूं ! जहां मेरा परिचय, मेरा परिचय है। जहां मेरा घर, सचमुच मेरा घर है। स्वयं को खोजती ऋग्वेद की अमृत ऋचाओं की ये धारायें ! हम कैसे भूल गये इनको ?

इन्द्रः सहस्त्रदान्वां वरूणः शंस्यानाम्।
क्रतुर्भवत्युक्थ्यः।।6/5।।

इन्द्रः ब्रह्मज्वालायें, महान आत्माग्नियां **सहस्त्र** असंख्य, हज़ारों **दान्नाम्** उपलब्धियां, कामनाओं की पूर्ति का दान प्रदान करती हैं **वरूणः** वरूण अर्थात क्षीरसागर के स्वामी उसी प्रकार हमारे जीवन को **शंस्यानाम** शोभाओं, प्रशंसाओं से वरद करते हैं। **क्रतुः** करते हैं **भवतः** प्रकट **उक्थ्यः** यज्ञ की रश्मियों से।

जो करता है, वह दिखता नहीं है। जो दिखता है, वह मात्र करने की पात्रता, नाटक का निर्वाह भर करता है। उसमें स्वयं कर सकने की स्वतन्त्र सामर्थ्य नहीं है। जीवन भी एक विचित्र पहेली है। जिसके उलझे ताने बाने सुलझाना कतई सहज नहीं है।

मैं करता हूँ ! इसमें सच कितना है ? वह जो कहता कि उसने ऐसा मेरे लिये किया है ! उसमें कुछ भी कर सकने की स्वतन्त्र सामर्थ्य कहां है ? जो न तो दिखता है तथा न ही जताता है, वह आत्मयज्ञ ही कर्त्ता धर्त्ता है। उसे ही आत्मस्थ होकर पढ़ना है। हमें हमारा विशुद्ध परिचय वहीं जाकर मिलेगा।

तयोरिदवसा वयं सनेम नि च धीमहि।
स्यादुत प्ररेचनम्।।6/6।।

तयोरिदवसा (तयोःइत अवसा) इस भांति नित्य रक्षक **वयम्** हमारे **सनेम** नियमपूर्वक, नियमित रूप से **नि** सबमें व्याप्त होकर **च** तथा **धीमहि** बुद्धि विवेक से वरद कर रहे, सचराचर को धारण कर रहे। **स्यादुत** (स्यात्+उत) घुले मिले से, रोम–रोम में व्याप्त तथा हमारे (उत) संशयों का **प्र** सम्पूर्ण रूप से **रेचनम** त्याग, निवारण करते हुए, सभी संदेहों को मिटाकर सम्पूर्ण संशयों का अन्त कर हमें जीवन के अभीष्ट की ओर प्रेरित करने वाले इन्द्र और वरूण हमारे आत्मयज्ञ में नित्य वास करते हैं। उनसे वहीं जाकर वरद हों।

खोज एवं अनुसंधान की विलक्षण दिशा वेद की ही सोच हो सकती है। वेद का महावाक्य भी इस विषय में संदर्भित है :–

मन संशयरहित हुआ किसका ?
आत्मा को संदेह हुआ कब ?

संशयों का निवारण चाहने वालो –
मन से असंगत हो, बुद्धि आत्मसंगी बना लो !

एक जीवनजयी खोज, अपनी दिशा को स्पष्ट करती, अपनी राह पर प्रत्येक ऋचा अग्रसर हो रही है। मैं खोज रहा हूं मुझको ! गुरूकुल की शिक्षा का आरम्भिक काल है तथा ब्रह्मचारी छात्रों के जीवन का भी आरम्भिक काल ही है। मन के रीते घड़े, वे भर रहे हैं आत्मयज्ञ के अमृत से। मन और आत्मा एक हो जायें, अद्वैत योग के द्वारा एकत्व के सूत्र में, जीवन के आरम्भ में ही बन्ध जायें, जीवन संशय रहित, अतिशय सुखद, वरद तथा लक्ष्यपरक सहज हो जाता है।

इन्द्रावरूण वामहं हुवे चित्राय राधसे।
अस्मान्त्सु जिग्युषस्कृतम्।।6/7।।

इन्द्रावरूण प्रलय के आदित्य, ब्रह्मज्वालायें, आत्मयज्ञ की अग्नियों के **वामहम्** वामागं वरण करते हुए (जिसप्रकार विवाह मण्डप में कन्या वर का वरण कर उसके वामागं होती है।) **हुवे** यज्ञ के सम्मुख **चित्राय** अपने स्वरूप, पहचान, शरीर को **राधसे** अग्नियों में मथ डालें, मिटा दें, यज्ञ का अन्तिम वरण करें। **अस्मान्त्स**, ऐसी प्रलय एवं पुनः यज्ञ के गर्भ से उत्पत्ति के द्वारा **जिग्युषः** अमर जीवन, मोक्ष, देवत्व को **कृतम** प्राप्त हों, धारण करें।

वेद की इस कल्पना को समझने के लिये हमें जीवन के समीकरण को समझना होगा। जीवन क्या है ? शरीर ? जीवात्मा ? अथवा आत्मा ? वेद ने कहा तीनों का समीकरण ही माया में जीवन का अर्थ है। आत्मा यज्ञों के संयोग से शरीर रूपी जीवन्त घर को बनाता है तथा इसकी जीवन भर रक्षा तथा भरण करता है। आत्मा इस शरीर रूपी घर को जीवात्मा के हित में बनाता है। जीवात्मा जो इस घर के बिना माया में उसी प्रकार नहीं रह सकता जैसे जल में आक्सीजन मास्क के बिना मनुष्य नहीं ठहर सकता (इसका विस्तार ज्योतिर्वेद के विभिन्न सोपान ग्रन्थमाला के तीनो खण्डों में देखें)। परन्तु मायारहित क्षेत्र क्षीरसागर में जीवात्मा को इस शरीर रूपी घर की आवश्यकता नहीं होती। उसे सोम ज्योतियों का ही सहारा

लेना होता है। देवता सोमरस अर्थात ज्योति रस का ही पान करते हैं।

इन्द्रावरूण नू नु वाँ सिषासन्तीषु धीष्वा।
अस्मभ्यं शर्म यच्छतम्।।6/8।।

इन्द्रावरूण प्रलय की महाज्वालाओं **नू** में **न**, व्याप्त होकर **वाँ** सृष्टि उत्पत्ति के हित में अर्पित समाहित होकर **सिषासन्तीषु** अभीष्ट सिद्धि, मुमुक्षु अवस्था में व्याप्त जन्मने के हित में **धीष्वा** क्षणभंगुर असत्य जगत ज्ञान को आत्मयज्ञ में अर्पित कर अकिंचन होकर **अस्मभ्यम्** हम सब भी, याजक गण **शम** आत्मसुखों से, अमर आत्म सुख के ऐश्वर्य से **यच्छतम** वरद हों, व्याप्त हों, अग्रसर हों।

कल्पना करें कि एक महा संग्राम में रथ सहित, महारथी और सारथि आये। सारे संग्राम में वे रथ के पहिये आदि ही दुरूस्त करते रहे। युद्ध का उन्हें भान ही न हुआ। क्या वे समझदार थे ? वे हम सब ही तो हैं। शरीर रथ की सुविधाओं के लिये, जीवन संग्राम को भुलाकर, निहित जीवन उद्देश्यों की अवहेलना करते, केवल शरीर रथ की सुविधाओं को ही सबकुछ मानकर मृत्यु की गोद में शनैः–शनैः निरन्तर अग्रसर हैं। विडम्बना यह भी है कि हमें इसका आभास भी नहीं होता। जीवन महाभारत के भीषण महासंग्राम का हमें ध्यान ही नहीं है। हमें यह भी ध्यान नहीं है कि इसी महासंग्राम को जीतकर ही जीव नाना योनियों से उद्धार पाता अति दुर्लभ मानव योनि में प्रवेश पाता है। इसीप्रकार हमने भी यह दुर्लभ मानव तन पाया है। क्या हम केवल शरीर के हित में, शरीर भर ही जियेंगे ? शरीर की सुविधा ही मात्रा मानव की योनि भर होगी ? जगत नाट्यशाला के पात्र की पात्रता भर जीना ही मनुष्य की योनि तथा सारे धर्म हैं ?

प्र वामश्नोतु सुष्टुतिरिन्द्रावरूण यां हुवे।
यामृधाथे सधस्तुतिम्।।6/9।।

प व्यापक, अमर, दिव्य **वाम्** जिसमें **अश्नोतु** व्याप्त होकर चमकते हुए, तृप्तावस्था से सुखी होते हुए **सुष्टुतिः** पूर्ण पुष्ठ शरीर एवं दीर्घ जीवन को **इन्द्रावरूण** प्रलय के आदित्यों के द्वारा **याम्** जो हम सब **हुवे** हवन आत्मयज्ञ में पाते हैं, अर्थात जो जीवन के रूप में हम

आत्मयज्ञ से उपलब्ध करते हैं तथा जीवन की निरन्तरता, पुष्ठता, सौष्ठव, बुद्धि, विवेक एवं सम्पूर्ण उपलब्धियां **याम** उन सबको **ऋधाते** आत्मयज्ञ के हित में **सध** सधे अर्पित मन **स्तुतिम्** आत्मा में ही अर्पित करें।

गुरूकुल के छात्र यज्ञ के द्वारा निज स्वरूप से परिचित हो रहे हैं। आधुनिक युग में यह अमृत ज्ञान वे बुढ़ापे तक नहीं ग्रहण कर पाते। वाह्य जगत नैमितिक जगत है। शिशु को जन्मने की सामर्थ्य से हीन है। आत्मा ही यज्ञ के द्वारा नवजात शिशुओं को यथा देहों में उत्पन्न करता है। माता पिता यहां निमित्त मात्र हैं। जगत नाट्य लीला में पात्र (ऐक्टर) भर ही हैं। अपने शरीर का एक कोश बना पाना उनके लिये सम्भव नहीं है। ऐसे दुर्लभ जीवन को कोरी भौतिकताओं एवं भ्रमित अतृप्तियों में व्यर्थ ही गंवा देना महा पाप है। उसे आत्मयज्ञ के निमित्त होकर आत्मस्थ भाव से जीना ही धर्म है।

जीवन के उत्पत्ति के रहस्य मनुष्य की ज्ञान सीमा से आज भी बहुत परे हैं। कल के वैज्ञानिक ऋषि इसी पहेली के सूत्रों को देह के भीतर निरन्तर हो रही उत्पत्ति के यज्ञों में खोज रहे हैं। वे परम् ज्ञानी हैं। इसीलिये निमित्त जगत के निमित्त सहयोग को उत्पत्ति का मूल मानने को तैयार नहीं है। जब हम नहीं कर रहे, तो फिर कौन है, जो निरन्तर सचराचर को उत्पत्ति से वरद किये जाता है ? इसी खोज के साथ हम भी जुड़ बैठे हैं।

किसी भी वैज्ञानिक खोज को पहले एक पूर्वानुमान कल्पना के द्वारा उभारा जाता है। उसके उपरान्त उसके हित में साक्ष्य एवं प्रमाणों की खोज होती है। उसके पक्ष एवं विपक्ष को भी साक्ष्य, तर्क एवं प्रमाणों द्वारा सही अथवा गलत सिद्ध किया जाता है। यही किसी भी अनुसंधान अथवा वैज्ञानिक खोज का नियमित मार्ग है।

ऋषि भी इसी मार्ग का अक्षरशः अनुसरण कर रहे हैं। वाह्य यज्ञ हमारे वाह्य निमित्त शरीर की भांति पूर्वानुमान की संरचना के रूप में ग्रहण किया गया है। शरीर में व्याप्त सृष्टि में समर्थ आत्मा को आत्मयज्ञ के रूप में उभारा गया है। आत्मा यज्ञ का आचार्य है, प्राणवायु को उपाचार्य के रूप में ग्रहण किया गया है। ब्रह्मज्वाला को यज्ञ की अग्नि के रूप में पूर्वानुमानित किया गया है। द्वादश आदित्यों

को प्रलय एवं सृष्टि के समर्थ कर्त्ताओं के रूप में ग्रहण किया गया है। आत्मयज्ञ सामिग्री को केवल भस्म ही नहीं करता, वरन उसे नई उत्तरोतर सृष्टि भी प्रदान करता है, जो वाह्य नैमितिक यज्ञ के द्वारा सहज नहीं है। सम्पूर्ण समीकरण को सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तर तक विवेचित तथा परिमार्जित किया गया है। जीव को यजमान तथा उसके हव्य समिग्री के रूप में उसके शरीर, जीवन के सम्पूर्ण क्षणों, चेष्टाओं, कर्मों एवं विचार को भी हवन सामिग्री बना दिया गया है। जीवन के रहस्यों को खोजती युगान्तर ऋषि की दृष्टि !

।। सप्तम् सूक्तम् ।।

सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते।
कक्षीवन्तं य औशिजः ।।7/1।।

सोमानम् सोम ज्योति रूपी अमृत पान के लिये **स्वरणम्** आत्मयज्ञ में स्वयं को **कृणुहि** व्याप्त यज्ञाहूति करके **ब्रह्मणस्पते** ब्रह्मज्वालाओं में अर्पित होकर **कक्षीवन्तम्** योनि योनि में भटकने वाला जीव **य** जो हो जाता है **औशिजः** नित्य अमर।

जीव जीवन को जीना तथा भोगना भर ही जान पाता है। उसमें भी सदा भ्रमित ही रहता है। उत्पत्ति सृष्टि जैसे विषय की ओर उसका सहज ही घ्यान जाता ही नहीं है। इसे ही सन्त माया कहते हैं। यदि मानव जैसी दुर्लभ ज्ञान से वरद योनि को ग्रहण करने के उपरान्त भी उसकी अपने प्रति उत्कन्ठा, जिज्ञासा और तड़प नहीं जागी तो कब वह स्वयं को जानना चाहेगा ? निकृष्ट पिशाच अथवा कीट, पशु आदि योनियों में ? कब तक वह हाथ में कटोरा लिये, किसी अज्ञात सत्ता से प्रत्येक धड़कन, सांस भीख में मांगता रहेगा ? गुरूकुल शिक्षा उसे आरम्भ से अपने प्रति सचेत ही नहीं करती वरन आत्मस्थ मनोरम, सचराचर के लिये भी उसे सुखद वरद आत्मस्थ ऐश्वर्यमय जीवन, जीना सिखाती है। शिक्षा का आरम्भ ही जीवन की खोज के यज्ञ रूपी समीकरण से होता है।

यो रेवान्यो अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्धनः।
स नः सिषक्तु यस्तुरः ।।7/2।।

यो जो **रेवान्यो** उफनाती नदी की भान्ति मद्मस्त होकर आत्मयज्ञ में सामिग्रीवत जलने की **अमी** पीड़ा को **वहा** वहन धारण कर गये तथा **वसुवित्** आत्माग्नियों के ऐश्वर्य से युक्त होकर **पुष्टि** पुष्ठता, सामर्थ्य की **वर्धनः** वृद्धि को प्राप्त हुए, ब्रह्माग्नियों के ऐश्वर्य से वरद हुए **स** ऐसे **नः** हम लोग **सिषक्तु** सिक्त अर्थात सींचे आप्लावित होते हैं, परिपूर्ण होते हैं **यस्तुरः** अमरपद से, सामर्थ्य एवं सत्ता से। नित्य अवस्था से।

जीव और उसका सम्पूर्ण जीवन आत्मा की प्रतिकृति, प्रतिक्रिया भर ही तो है। उसका मात्र धर्म आत्मा की ही अनुकृति बन कर जीना है। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो उसका प्रत्येक कर्म, अधर्म एवं प्रत्येक चेष्टा अधम पाप ही है। वेद की इन ऋचाओं से उभरते इस विचार को सहज ही नकारा नहीं जा सकता है। प्रत्येक क्षण मुझपर आत्मा का ऋण है। मेरा सबकुछ आत्मा के द्वारा ही सम्भव है तथा आत्मा की ही देन है। आत्मस्थ ज्ञान, आत्मस्थ सत्य एवं आत्मभाव का अनादर करके किस प्रकार धर्मपूर्वक जिया जा सकता है ? आत्मनिमित्त आत्मस्थ कर्म एवं चेष्ठा ही मात्र धम है। आत्मयज्ञ से उभरता प्रत्येक क्षण पूर्व की भान्ति ही आत्मकुण्ड में अर्पित यज्ञ होता रहे, जिसप्रकार से पूर्व में भी भस्मी से अन्न का रूप पाया, पुनः आत्मकुण्ड में आ समाया तथा आत्मयज्ञ से नवजात शिशु का रूप पाया। भस्मी में खो गया शरीर फिर जीवनधन पाया। यही राह है अनन्त की। इसी मार्ग से तू यहां तक आया है। इसी मार्ग पर आगे बढ़ते हुए तुझे अनन्त अवस्था को पाना है।

मा नः शंसो अररुषो धूर्ति प्रणक् मर्त्यस्य।
रक्षाणो ब्रह्मणस्पते।।7/3।।

मा नहीं, नकार दें **नः** हमारी **शंसो** (शंसाः) प्रशंसा, दम्भ **अररूषो** (अरर्+उषाः) आरम्भ से ही, उत्पन्न होते ही तथा **धूर्तिः** (धूर+अति) विनम्र, अकिंचन, धूल के कण से **प्रणक** प्राणवान, प्राण पल्लवित हैं हम तथा **मर्त्यस्य** मरणशील ऐसा जन्म जीवन है हमारा **रक्षाणो** आरक्षित हैं हम सब **ब्रह्मणस्पत** आत्मा अनन्त से।

शिक्षा वही है जो मुझे मेरा सत्य भान दे। धूल के कणों से उभरा हूं मैं और सम्पूर्ण अस्तित्व मेरा। आत्मा ब्रह्म ही मुझे इस अकिंचन

मरणशील योनि में लाया है। आत्मा ही मेरे जीवन के प्रत्येक क्षण का जनक, रक्षक, धाता विधाता है। आत्मा के द्वारा ही बुद्धि, विवेक, विचार, कर्म एवं सम्पूर्ण चेष्टायें हैं। आत्मा के बिना मेरा सम्पूर्ण अस्तित्व एवं कृतित्व धरा की धूल में विलीन हो जाता है। मुझे सभी प्रकार के दम्भ एवं कर्त्तापन के निम्न पाखण्ड से दूर रहना होगा। आत्मा का निमित्त हूँ, आत्मा के द्वारा हूँ, आत्मा का ही बिम्ब प्रतिबिम्ब हूँ तथा आत्मा के संग ही मेरा उद्धार है। मुझे इसी विनम्र अकिंचन भाव से आत्मरथ होकर मानव योनि से अनन्त की ओर आत्मसंगी होकर जाना है।

स घा वीरो नरिष्यतियमिन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः।
सोमो हिनोति मर्त्यम्।।7/4।।

स संयुक्त, सर्वत्र घा तृप्त करने वाली, पालने वाली वीराः ब्रह्मज्वाला, जगतमाता, जगदम्बा न नही रिष्यति किसी से भेद अथवा ईर्ष्या आदि करती यम जिस इन्द्राः महान अमर ब्रह्मणस्पतिः जगत जननि की सन्तान हम सब हैं। सोमो अमर जीवन ज्योतियों से हिनोति संयुक्तकर, मिलाकर वे हमें प्रदान करती मर्त्यम् मृत्युलोक में यह मरणशील मानव जन्म। वे ही प्रदान कर सकती अमर अनन्त योनि हम सबको।

एक आत्मा (ब्रह्म) पिता तथा एक ब्रह्मज्वाला ही जगत माता है। सम्पूर्ण सचराचर इन्हीं की सन्तान हैं। **एकोब्रह्म द्वितीयोनास्ति** ! जब एक ही जनक है हमारा तो भेदभाव, ईर्ष्या–द्वेष, जात–पांत, अपना–पराया, लिंग भेद अथवा योनि भेद का भी प्रश्न कहां है ? वे ही सोम ज्योतियों के यज्ञों के द्वारा सबको समान भाव से प्रकट करते हैं। जो अभेद नहीं वह ज्ञानी कैसा ? जो मनसा वाचा–कर्मणा अभेद नहीं हुआ उसे आत्मा की अभेद अमर राह कभी नहीं मिली।{ **एक नूर से सब जग उपज्या, कौन भले को मन्दे** !(गुरू नानक)।

जीवन जगत नाट्यशाला के नाटकीय पात्रता के नाटकीय भेद, नाटक की औपचारिकता भर, निमित्त भाव से हो सकते हैं। परन्तु नित्य आत्मजगत में भेद का स्थान ही कहां है। प्रत्येक जीवात्मा एवं उसका शरीर आत्मा से पूर्ण है। प्रत्येक इकाई सम्पूर्ण सचराचर का सूक्ष्म परन्तु सम्पूर्ण चित्र है। जो तुममें है, वही सम्पूर्ण सचराचर में है। जो तुममें

नहीं है, वह सम्पूर्ण सचराचर में कहीं भी नहीं है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का सूक्ष्म चित्र हम सब हैं तथा सचराचर को प्रकट करने वाले जगत पिता एवं माता, हम सबमें विद्यमान हैं।

त्वं तं ब्रह्मणस्पते सोम इन्द्रश्च मर्त्यम्।
दक्षिणा पात्वंहसः।।7/5।।

त्वम् तुम (हम सब) **तम्** सब ओर चमकने, संरचना करने वाली **ब्रह्मण्स्पते** आत्मयज्ञ की **सोम** जीवन ज्योतियों के द्वारा **इन्द्रः** ब्रह्मज्वाला **च** और **मर्त्यम** जीवन एवं मृत्यु की लीला करते हैं। उन्हें **दक्षिणा** दान के रूप में **पा** हम प्राप्त हों, अर्पित हों **त्वम** तुम (हम सब) **हसः** प्रसन्न आनन्दपूर्वक अनन्त सुख हेतु।

ऐसे ही जिसप्रकार हव्य यज्ञाग्नि को अर्पित होकर ज्योतिर्मय हो अनन्त में व्याप्त हो गया। जो अर्पित हुआ, उद्धार उसी का हुआ। जिसने अर्पित किया उसने मात्र मंगल आशीर्वाद ही पाया। तुझे केवल आशीर्वाद तक ही सीमित नहीं रहना है। तुझे स्वयं को हव्य सा आत्मयज्ञ में अर्पित होकर अमर राह को प्राप्त करना है। मानव योनि क्षणभंगुर है। यह तेरा ठहराव कदापि नहीं हो सकती। यह तो मात्र मार्ग का पड़ाव भर है। तू यहां पर सदा नहीं रह सकता। आगे बढ़ जायेगा अन्यथा लौटकर धूल का आलिंगन करता, पतित योनियों में भटकने चला जायेगा। समय सीमित है। निर्णय अतिशीघ्र लेना है। आगे बढ़ना है अथवा पुनः भटकने चल देना है ?

सदस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।
सनिं मेधामयासिषम्।।7/6।।

सदस्पतिम् प्रत्येक देह रूपी घर में वास करने वाले आत्मा रूपी स्वामी अधिपति **अद्भुतम्** (**अद** धातु से भोजन, खाना तथा **भुतम्** जीवन्त, उत्पन्न होने के अर्थ में) जीव के भोजन से जीवन के अमृत क्षण जीवन्त करने वाले, जीव को जीवन्त घर रूपी शरीर भोजन से प्रदान करने वाले **प्रियम** सचराचर के अतिशय प्रिय तथा सचराचर का सर्व प्रिय करने वाले **इन्द्रस्य** मन एवं इन्द्रियों की **काम्यम्** कामनाओं की पूर्ति करने वाले **सनिम्** संयुक्त व्याप्त हों, हम विनम्र वन्दन करें कि ऐसे

आत्मयज्ञ हमें मेधामया बुद्धि, सद्विवेक एवं आत्मज्ञान से युक्त सिषम सींचें, ओत प्रोत करें।

ब्रह्मचारी छात्र चक्षु से वरद हो रहे हैं। अब उनके पास नेत्रों के अतिरिक्त चक्षु अर्थात भीतर की आंख भी धीरे धीरे खुलती जा रही है। वे सब नेत्रों एवं चक्षु से वरद हो त्रिनेत्र बन गुरूकुल से गांव को लौटकर जायेंगे। आधुनिक शिक्षा में चक्षु की कल्पना मात्र नेत्रों के पर्यायवाची के रूप में ही भ्रमवश होती है। मनुष्य कभी भी स्वयं को सत्य रूप में जान नहीं पाता है। सम्पूर्ण जीवन अन्धता अज्ञान, असत्य, लोलुपता तथा अन्याय की भेंट हो जाता है। महाभारत महाकाव्य में अन्धे राजा धृतराष्ट्र तथा स्वयं अपनी आंखों पर पट्टी बान्धनेवाली, धृतराष्ट्र की पत्नी गांधारी का रूपक बन अपने जीवन का सर्वनाश ही करता रहता है। अतृप्तियां इच्छायें कौरव बनते हैं। मामा शकुनि (मुर्दा खाने वाले गिद्ध अर्थात शकुनि) उसकी मनोवृति है तथा द्रोणाचार्य (मुर्दा खाने वाला पहाड़ी कौवा अर्थात द्रोण) उसका जीवन्त गुरू ज्ञान है। जीवन के नरक ढोता, तथाकथित विद्वान मानव, निरन्तर स्वयं को अकाल मृत्यु एवं पतित योनियों में खींच कर ले जाता हुआ।

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञोविपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति।।7/7।।

यस्मात जिनके ऋते यज्ञामृत के बिना न नहीं सिध्यति सिद्ध हो सकते यज्ञो (यज्ञाः) यज्ञ अर्थात सृष्टि, उत्पत्ति, जीवन के अनुष्ठान विपश्चितः अतीत में भी, पूर्व में भी, इससे पहले भी चन अन्नादिक की उत्पति धूल एवं भस्मी से तथा अन्नादिक से शिशु की उत्पत्ति स ऐसे धीनाम् धारण उत्पन्न करने वाले यज्ञ से योगम योग, संयोग, युक्त होकर इन्वति ज्योतिर्मय एवं धन्य हों।

लन्दन के एक स्कूल में छात्रों से प्रश्न किया, "दूध कहां से आता है ?"

"कांच की बोतलों से !" सबने एक ही उत्तर दिया। उन्होंने गाय कभी देखी ही नहीं थी।

यदि आज किसी भी डिग्री धारक समझदार से उत्पत्ति, जीवन, सृष्टि आदि के विषय में पूंछे तो सम्भवतः उसके उत्तर भी कुछ ऐसे ही होंगे। वे आसक्त मिथ्या क्षणभंगुर जगत के विषय में सबकुछ साधिकार दम्भपूर्वक बता सकते हैं। अपने विषय में वे क्या बता पावेंगे ? ये विषय तो उन्होंने कभी पढ़े ही नहीं। इनका भान भी उन्हें जीवनपर्यन्त होता नहीं है। जबकि गुरूकुल इन विषयों को आरम्भ से ही लेकर चलता है। बालक पढ़ते तो हैं ही, इनका व्यवहारिक प्रयोग भी सीखते हैं। इनको अर्पित होकर एक अति मूल्यपरक जीवन का संकल्प, अन्तिम रूप से धारण करते हैं। शिक्षा वही है जो मुझको, मुझसे मिला दे। संशयरहित रूप से मेरा, मुझसे परिचय करा दे।

आदृघ्नोति हविष्कृतिं प्राञ्चं कृणोत्यध्वरम्।
होत्रा देवेषु गच्छति।।7/8।।

आदृघ्नोति आकर दृढ़ पुष्ठ करें **हविष्कृतिम** हव्य, सांकल्य, सामिग्री समान स्वयं को आत्मयज्ञ में जैसे **प्राञ्चम** पूर्व की भांति, सदा निरन्तर **कृणोत्य** करते रहें आत्मयज्ञ **अध्वरम** हों अमर यज्ञमय होकर **होत्र** होकर होम, हवन **देवेषु** देवत्व में **गच्छति** जांये।

गुरूकुल में छात्र जीवन का अनुशासन ग्रहण कर रहे हैं। जीवन के सूत्रों का सूक्ष्म अध्ययन करते वे अपने भविष्य के प्रति सचेत हो रहे हैं। ऋषि उन्हें एक ऐसा ग्रन्थ पढ़ा रहे हैं जिसे कोई मनुष्य लिखने में समर्थ नहीं है। एक ऐसा ग्रन्थ जिसे प्रकृति एवं पुरूष अनन्त काल से सर्वत्र यज्ञों के द्वारा चित्रित करते आ रहे हैं। धर्म का इकलौता मूल ग्रन्थ ! शेष सभी ग्रन्थ इस मूल ग्रन्थ के भाष्य ग्रन्थ मात्रा हैं।

अन्तिसन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।। (अथर्ववेद)

सचराचर ही धर्म का ग्रन्थ है जिसे लिखता आत्मा निरन्तर यज्ञों के द्वारा ! जीवन है अक्षर ! अक्षर अक्षर सजता ग्रन्थ सारा ! मृत्यु है अर्धविराम, अर्धसत्य ! आत्मा के स्पर्श यज्ञ से मृत्यु को नकार, फिर जीवन्त होता सचराचर ! आत्मा ही है पूर्ण सत्य ! यज्ञ है सत्य की धड़कन ! नित्य, जीवन्त एवं शाश्वत !

नराशंसं सुधृष्टममपश्यं सप्रस्थस्तमम्।
दिवो न सद्ममखसम्।।7/9।।

नरा ब्रह्मज्वाला नारायणी **शंसम** प्रशंसा, प्रतिष्ठा, वन्दनीय **सुधृष्ट मम** सचराचर को दिव्य पुष्टता प्रदान करने वाली **पश्यम** सचराचर का ध्यान रखने वाली, देखभाल करने वाली **सप्रस्थमम** (स+प्रथ+स्थामम्) जीवन ज्योतियों की चमक से संयुक्त स्थापित करने वाली **दिवो** (दिवः) नित्य निरन्तर, निशिदिन, सदा **न** हम सबको **सद्म** सद्य, सदा **मखसम** यज्ञों से संयुक्त (मख यज्ञ को कहते हैं) करके नित्य सचराचर का भरण करने वाली ब्रह्मज्वाला, आत्मयज्ञाग्नि के प्रति निमित्त भाव से जीवन को धारण करें।

इसप्रकार इस सूक्त का समापन हुआ। सम्पूर्ण सूक्त बाह्य यज्ञ को नैमित्तिक यज्ञ के रूप में ग्रहण करते हुए निर्विवाद रूप से आत्मयज्ञ की ही वन्दना स्तुति कर रहा है। आश्चर्य है कि सभी विद्वान, तपस्वी, धर्मगुरू, मठाधीश एवं सम्प्रदायों के आधीश्वर, आत्मयज्ञ के सूत्रों की अनदेखी किस प्रकार करते चले गये। जबकि इसी धारा में सम्पूर्ण उपनिषद, पुराण, लीलाग्रन्थ नित्य एवं स्पष्ट प्रमाण के रूप में स्पष्ट ही नहीं वरन व्यापक चलन में भी हैं। महाभारत तथा श्रीमद्भगवतगीता में श्रीकृष्ण इसी को धर्म के रूप में प्रतिपादित करते हैं।

लगभग एक हजार से बारह सौ वर्ष पूर्व भरतखण्ड की धरती पर बर्बर कबाईली जातियों के आक्रमण हुए। गुरूकुल, ऋषिकुल और विश्वविद्यालय भी ध्वस्त हो गये। दासता के लम्बे अन्तरालों के गहन अन्धेरों में सबकुछ लुप्त होता चला गया। उन सम्प्रदायों की मान्यतायें भी परोक्ष रूप से नये जन्म ले रहे सम्प्रदायों पर हावी होती चली गयीं। अन्तःचक्षु का विचार वाह्य लोकों में सात आसमानों की ओर भटकने लगा। अपने भीतर आत्मा का विचार धुंधलाता हुआ समय के साथ लुप्त होता वला गया। वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत लोक, ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक, शिवलोक आदि नाना लोक प्रकट होने लगे। मनुष्य जीवन समीकरण के स्थान पर लोभ एवं अतृप्तियों के क्षुद्र हितों की पूजा तक ही सीमित होता चला गया। भौतिकता उसपर निरन्तर हावी होती चली गयी।

आत्मपरक अन्तर्मुखी यज्ञ को वह गली चौराहों से आसमानों तक ले भागा। इसे हमने पहले ऋषि मधुच्छन्दा में भी विस्तार से पढ़ा है।

लगभग दो सौ वर्ष पूर्व अंग्रजों की गुलामी ने भ्रमों का विस्तार अधिक गहन कर दिया। सैविन्थ हैविन अर्थात सात आसमानो में ही जीवन के समीकरण एवं निदान खोजने की कल्पना ने अन्तर्मुखी यज्ञ से उत्पत्ति कल्पना को एक सिरे से समाप्त कर दिया। शिक्षा मदरसों से कान्वैन्ट स्कूलों में पंहुच गयी। गुरूकुल, ऋषिकुल कभी भी जीवन्त नहीं हो पाये।

देश की आज़ादी भी शिक्षा को स्वतन्त्र कर गुरूकुल की राह नहीं दे पायी। शिक्षा पर सरकार का वर्चस्व, शिक्षामन्त्री तथा तथाकथित आयोगों का दास बनकर रह गया। शिक्षा को अल्पसंख्यक तथा बहुसंख्यक वर्गभेद के भीषण प्रहार भी उसी संविधान की आड़ में झेलने पड़े जो भेदभाव रहित समान नागरिकता, समान न्याय तथा समान अधिकार का ढोल पीटता है। गुलाम भारत भारती फिर कभी आज़ाद नहीं हुए।

।।अष्टम् सूक्तम्।।

प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे।
मरुद्भिरग्न आगहि।।8/1।।

प्रति अर्पित हों **त्यम्** उनकों, आत्मयज्ञ को तथा ब्रह्मज्वालाओं को **चारुम** अतिशय मनोहर, सुन्दर तथा **अध्वरम** नाश से रहित करने वाले हैं। **गोपीथाय** (**गो** प्रकाश, सूर्य। **पीथाय** घर, उद्गम।(दूसरे अर्थों में **गोपी** ज्योतियों का पान करने वाली **जीवात्मा** के हित में) जीव मात्र को जीवन ज्योतियों से तथा जीव को अमर राह को प्रदान करने वाले हैं। उन्हें **प्र** सम्पूर्णता, समग्र भाव से **हूयसे** अर्पित हवन हों। **मरुत** प्राणवायु के **अभि** सम्मुख **अग्न** अग्नि के **आगहि** आकर ग्रहण हों आत्मयज्ञ से। मन, बुद्धि, वचन, कर्म एवं संकल्प सहित अर्पित हों।

सुर और असुर इन दोनो की चर्चा बाम्बार होती है। इन शब्दों को भी स्पष्ट करते चलें। सुर शब्द का अर्थ है देवता अथवा आत्मा सम्बन्धी है तथा इनके विपरीत अ+सुर असुर भाव है। जीवन की खोज को आत्मा में खोजने की प्रक्रिया सुर है। जीवन को वाह्य जगत में, अपने से दूर अन्यत्र लोकों अथवा भौतिकताओं में खोजने की प्रक्रिया असुर

प्रक्रिया कहलायेगी। चारों वेद तथा इनका अनुगमन करने वाले सम्पूर्ण ग्रन्थ सुर ग्रन्थ कहलाते हैं। जीवन, उत्पत्ति, सृष्टि तथा उसके रहस्य अपने भीतर खोजने की दिशा सुर दिशा है। दूसरी दिशा अपने से बाहर, स्वयं से दूर; ज्ञान, विज्ञान, अनुसंधान द्वारा जीवन के समीकरण का हल खोजना, यह भी एक सशक्त खोज की दिशा है। हमें बारी बारी से दोने दिशाओं को खोजना होगा। किसी एक को सही अथवा गलत मान लेना भारी भूल होगी। वर्तमान में हम सुर दिशा में चल रहे हैं।

नहि देवो न मर्त्यो महस्तव क्रतुं परः।
मरुद्भिरग्न आ गहि।।8/2।।

नहि नहीं है ऐस कोई **देवाः** देवताओं में भी **न** नहीं है ऐसा कोई **मर्त्यो** मरणशील लोकों में, प्राणीयों में ऐसा **महस्तव** (महः= महान + **तव** आपके) महान आपके सदृश्य **क्रतुम**कर सके **परः** बराबरी, स्पर्धा आपसे। **मरूत्** हे प्राण वायु **अभि** सम्मुख हो **अग्न** आत्माग्नियों के **आ गहि** आकर ग्रहण हो बह्मज्वालाओं में।

कौन हूँ मैं ? किसके द्वारा हूँ मैं ? किसप्रकार बनता, जीता और मर जाता हूँ मैं ? अपने भीतर खोज रहा हूँ स्वयं को ! वाह्य यज्ञ और सम्पूर्ण जगत, निमित्त मात्र है। सत्य की परछांई भर है। सत्य नित्य जीवन्त है मुझमें ! उसे वहीं जाकर समझना तथा यथा धारण करना है। जो वस्तु जिस स्थान पर स्थापित सक्रिय होती है, उसे वहीं उसकी क्रियाशीलता में जानना ही समझदारी है। मुझे मेरा आत्मा ही प्रतिक्षण बनाता है। वाह्य जगत का निमित्तमात्र ही सहयोग है। यज्ञ की प्रक्रिया मुझमें निरन्तर है। उसे अपने भीतर जाकर ही पढ़ना होगा। वाह्य जगत से तटस्थ होकर, निमित्त भाव से सभी कर्त्तव्यों दायित्वों का निर्वाह करते हुए, आत्मकुण्ड में नित्य स्थापित रहना होगा। यज्ञ में अर्पित होकर ही यज्ञ से दयापूर्वक यज्ञ के ज्ञान रहस्य को पाया जा सकता है।

ये महो रजसो विदुर्विश्वे देवासो अद्रुहः।
मरुद्भिरग्न आ गहि।।8/3।।

ये जो **महा** (महाः) महान **रजसा** (रजसाः) नूतन सृष्टि, उत्पत्ति की योग्यता प्रदान करने वाले (रजो दर्शन के उपरान्त ही प्रकृति पुनःसन्तति धारण के योग्य होती है।) **विदुः** ज्ञान एवं विद्वता के जनक **विश्व**

सचराचर को प्रदान करने वाले तथा अमर राह देने वाले **देवासा** देवाधिदेव, देवताओं के परमेश्वर हैं **अद्रुहः** अभेद एवं नित्य हैं। ऐसे आत्मयज्ञ में **मरूत** ह प्राणवायु **अभि** सम्मुख व्याप्त हो **अग्न** ब्रह्मज्वालाओं में **आ गहि** आकर अर्पित ग्रहण हो।

निसन्देह ! हमने राह खोज ली है। जीवन एवं उत्पत्ति के उद्गम के समीप हम निरन्तर हो रहे हैं। सत्य को उसके मूल स्वाभाविक रूप में आप वहीं देख सकते हैं जहां वह सहज प्रकट तथा प्रक्रिया में हो। जहां वह निरन्तर नूतन सृष्टि में अग्रसर हो। जहां वह नूतन सृष्टि के द्वारा जीवन के नये क्षण, प्राण पल्लवित कर रहा हो। हमने उस स्थान एवं सत्ता को अपने देह में खोज लिया है। वह हमारा आत्मा है। आत्मयज्ञ के रूप में नित्य प्रज्जवलित है। हमें सारे रहस्य वहीं जाकर मिलेंगे। हे मन प्राण ! आत्मयज्ञ में अर्पित सम्मुख हो।

य उग्रा अर्कमानृचुरनाधृष्टास ओजसा।
मरुद्भिरग्न आ गहि।।8/4।।

य जो **उग्रा** प्रलयंकर **अर्कमान** सूर्यों का भी सूर्य है **ऋचुः** ब्रह्मज्ञान का जनक है **ना** हमारा **धृष्टास** धारण, पालन, उत्पत्ति, दृड़ता (बल, शक्ति) तथा सामर्थ्यदाता है तथा **ओजसा** ज्योतिर्मय ओजस्वी जीवन को देने वाला है। **मरूत** हे प्राणवायु **अभि** सम्मुख व्याप्त **अग्न** अग्नियों **आ गहि** आकर हो। चल महान आत्मयज्ञ की ओर ! मिटा दे स्वयं को सामिग्री सदृश्य ! पुनः प्रकट हो यज्ञ से, लेकर अमर रूप !

यह सृष्टि यज्ञ तो हमारी देह में ही सीमित है ? भला इससे सम्पूर्ण सचराचर की सृष्टि का क्या सम्बन्ध ? ग्रहों, नक्षत्रों, सूर्यों तथा आकाशगंगाओं की सृष्टि इससे किस प्रकार सिद्ध होती है ? आयें ज्योतिर्वेद के सिद्धान्त सूत्र में इसके अर्थ खोजें !

यत् पिण्डे। तत् ब्रह्माण्डे।।
जो हूँ मैं ! वही है जग सारा !!

सम्पूर्ण सचराचर का मैं सूक्ष्म एवं सम्पूर्ण चित्र हूँ। सम्पूर्ण सचराचर एक ही सनातन प्रक्रिया से प्रकट होता है। जिसप्रकार यज्ञ के द्वारा क्षीरसागर में, मायारहित क्षेत्र में ग्रहों आदि की सृष्टि होती है, उसी प्रकार शरीर के क्षीरसागर में, मायारहित क्षेत्र में जीवन तथा जीवन्त

क्षणों की सृष्टि आत्मयज्ञ के द्वारा होती है। समान तथा एक ही प्रक्रिया द्वारा सचराचर प्रकट होता है। मैं, सम्पूर्ण अनन्त का सूक्ष्म चित्र हूँ। सम्पूर्ण सचराचर, सूक्ष्म होकर मुझमें समाया हुआ है। जो मुझमें नहीं है, वह सचराचर में कहीं नहीं है। मैं सचराचर का सूक्ष्म जीवन्त चित्र हूँ। सचराचर का जनक आत्मयज्ञ भी सूक्ष्म होकर अपनी सम्पूर्ण भव्यता से मुझमें समाया हुआ है। मेरा आत्मा, घटघट वासी ही मेरा तथा सचराचर का जनक है।

ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः।
मरुद्भिरग्न आ गहि।।8/5।।

ये जो **शुभ्रा** शुभ्र, मंगलमय, मनोहर **घोरवर्पसः** शून्य से सचराचर को प्रकट करने वाले **क्षत्रासो** सचराचर आच्छादित व्याप्त होता जिनसे **रिशादसः** मृत्युञ्जय, मृत्यु को भी पराजित कर अमरता प्रदान करने वाले ऐसे आत्मयज्ञ में **मरूत** हे प्राणवायु **अभि** सम्मुख व्याप्त अर्पित हो **अग्न** आत्म ज्वालाओं में **आ गहि** आकर ग्रहण हो।

अन्तर चक्षु को जागृत कर खोलने तक गुरूकुल सीमित नहीं है। चक्षु ज्ञान को उसके जीवन का अद्वैत अंग भी बनाना है। जिससे उसका सम्पूर्ण जीवन; समाज, प्राणीमात्र तथा उसके निमित्त परिवार एवं उसके लिये भी अमृततुल्य हो। जितना अधिक अनासक्त, सत्यनिष्ठ, आत्मपरक जीवन उसका होगा, उतना ही सुखी तथा सम्मानित जीवन उसका होगा। जीवन के परम उद्देश्य की सहज प्राप्ति भी उसको होगी। आत्मयज्ञ की कल्पना उसकी धड़कनों, सांसों में सदा सम्मिलित समायी रहे, यही ऋषि का उद्देश्य है। आत्मपरक जीवन भावी पीढ़ियों की भी सद्प्रेरणा बनेगा। समाज, मानवमात्र तथा प्राणीमात्र के लिये भी वह वरदान बनेगा। क्या आधुनिक शिक्षा पद्धति, शिक्षामन्त्री, विद्वत समाज भी अब ऐसा सोचता है ? क्या शिक्षा में ऐसा कुछ है ? अथवा भौतिक लिप्सा, लोभ, भेदभाव, पारिवारिक संकीर्ण विचारधारा की जनक पोषक, आधुनिक शिक्षा का मूल उद्देश्य बनकर रह गया है। स्पष्ट खुले शब्दों में – अच्छी नौकरी, बढ़िया सुविधाजनक पद वेतन और बहुत सारी ऊपर की मोटी आमदनी अथवा घूस ?

ये नाकस्याधि रोचने दिवि देवास आसते।

मरुद्भिरग्न आ गहि।।8/6।।

ये जो **नाकस्य** अंतरिक्ष के **अधि** अधिष्ठाता, स्वामी **रोचने** देदीप्यमान, प्रतिष्ठित, स्थापित **दिवि** आत्म ज्योतियों से अन्तरिक्ष को जीवन्त प्रकाशित करने वाले **देवास** देवताओं की शरण देने वाले रक्षक **आसते** सबमें आत्मस्वरूप विद्यमान हैं, आसीन हैं। **मरूत** हे प्राणवायु ! **अभि** सम्मुख व्याप्त हो **अग्न** ऐसी आत्मयज्ञ ज्योतियों के **आ गहि** आकर ग्रहण हो।

अभी तक हमने वेद का जितना भी अध्ययन किया है, हमें कहीं पर भी धर्मान्धता अथवा साम्प्रदायिक संकीर्णता जैसा भाव कहीं नहीं मिला है। अन्ध भक्ति अथवा अन्ध आस्था के विचार से भी हमारी मुलाकात नहीं हुई है। जात पांत, भेदभाव, छूतपात अथवा तर्कहीन अप्रमाणिक मान्यता से भी हमारा परिचय नहीं हुआ है। संक्षेप परन्तु सशक्त भाव से, जो कुछ भी कहा गया, उसे तर्क प्रमाण तथा सचराचर व्यापी अनन्त काल के निर्बाध प्रकृति एवं पुरूष के नियमन के साथ जोड़कर ही कहा गया है। सम्पूर्ण सृष्टि के नियमन को सम्मुख रखकर ही कहा गया है। तर्क, प्रमाण एवं साक्ष्य की इतनी सशक्त एवं सर्वव्यापी धारा हमें कहीं अन्यत्र नहीं मिलती है।

वे अनादि परमेश्वर जो सचराचर के जनक हैं। वे केवल अन्तरिक्ष अथवा आसमान में ही नहीं, वरन समान भाव से हम सबमें वास करते हैं। उपरोक्त ऋचा में इसे ही ऋषि ने सिद्ध किया है। निरन्तर मुझमें उत्पत्ति ही प्रमाण है।

य ईङ्खयन्ति पर्वतान् तिरः समुद्रमर्णवम्।
मरुद्भिरग्न आ गहि।।8/7।।

य जो **ईङ्खयन्ति** पँख देकरे उड़ने की सामर्थ्य प्रदान करते हैं ग्रहों, नक्षत्रों, सूर्यों एवं आकाशगंगाओं को क्षीर सागर में **पर्वतान्** विशालकाय **तिरः** गतिमान तैरते हुए **समुद्रमर्णवम** मथ कर क्षीरसागर को प्रकट करता पर्वताकार ग्रहों, नक्षत्रों, आकाशगंगाओं को और प्रदान करता उन्हें उड़ने की सामर्थ्य। **मरूत्** हे प्राणवायु **अभि** सम्मुख व्याप्त हो **अग्न** अग्नियों के **आ गहि** आकर ग्रहण हो।

जिस सृष्टि यज्ञ की सामर्थ्य से प्रकट होते ग्रह, नक्षत्र, सूर्यादिक, आकाशगंगायें एवं देवत्व क्षीरसागर, नीलाकाश में;वे ही व्याप्त प्रत्येक देह में बनकर आत्मयज्ञ, करते सचराचर का उद्धार ! यज्ञ के द्वारा पाता जीव नूतन देह, जीवन के क्षण, बुद्धि, विवेक और विचार। जो कुछ भी सामिग्री, सांकल्यवत अर्पित होता आत्मयज्ञ में, पाता उद्धार, उत्तरोतर नया जीवन एवं बहुमूल्य जीवन के क्षण। हे जीव स्वयं को सामिग्री सांकल्य सा आत्मयज्ञ में करके अर्पित, ग्रहण कर नया जीवन क्षीरसागर में एवं अनन्त का राही हो। यात्री जीव अपनी मंज़िल पर आये। यात्रा का सफल, सुखद समापन हो।

आ ये तन्वन्ति रश्मिभिस्तिरः समुद्रमोजसा।
मरुद्भिरग्न आ गहि।।8/8।।

आ आकर **य** जो **तन्वन्ति** सूक्ष्म, कृशांगी, दुबली पतली, छरहरी **रश्मि** किरणों को प्रकट कर **अभि**: सम्मुख हर ओर व्याप्त **तिरः** तैराता फैलाता चला जाता है **समुद्रम** अथाह सागर सी, क्षीरसागर, आकाश में एवं प्रकट हो उठता जिससे **ओजसा** ओजस्वी प्रकाश, दिव्य ज्योतिर्मय ! **मरूत** हे प्राणवायु **अभि** सम्मुख व्याप्त हो **अग्न** अग्नियों के **आ गहि** आकर ग्रहण हो।

बुनता है जो अनन्त आकाश में तेजस्वी ज्योति किरणों का असीम संसार ! जिसके यज्ञ फल से जागृत, चमत्कृत हो उठता सचराचर ! जीवन्त होती कल्पनायें ! सजते स्वप्न एवं असंख्य उन्नीदी सी कल्पनायें। विचार होते उन्मादित जिससे ! जिससे शिशु रूप में जीवन्त होती प्रकृति नित्य निरन्तर, सर्वत्र ! वे ही सचराचर के स्वामी आत्मयज्ञ के रूप में तुझमें प्रज्जवलित हैं, नित्य निरन्तर ! उन्हीं से पाया जन्म जीवन तूने ! वे ही यज्ञ से प्रदान करते जीवन के क्षण नये! वे ही जीवन के रक्षक, पालक, प्राणाधार ! उन्हीं से योग अर्थात अद्वैत कर। सामिग्री, सांकल्य सा उन्हीं में मनसा, वाचा, कर्मणा हो समाधिस्थ ! उन्हीं से सम्भव है सबका उद्धार !

प्रत्येक जीवात्मा तथा शरीर की पूर्णता, आत्मयज्ञ ही है। सम्पूर्ण सत्य गृहस्थधर्म, आत्मस्थ धर्म ही है। वाह्य निमित्त जगत के सारे धर्म निमित्तमात्र ही होते हैं। धर्म की सत्यता की कसौटी आत्मस्थ भाव ही

कहलाता है, **तत्सवितुर्वरेण्यम्** ! ऐसे सविता स्वरूप आत्मयज्ञ का वरण करता हूं। वरण ही पूर्ण गृहस्थ धर्म का संकल्प है। आत्मा ही मेरा गृहस्थधर्म है। वाह्य गृहस्थ धर्म आत्मनिमित्त आत्मस्थ धर्म का नाट्य मंचन भर है। जगत नाट्यशाला है तथा जीव मंच का कलाकार ! कलाकार का घर भी तो होता है। मंच तो घर कदापि नहीं हो सकता। आत्मा ही घर है।

अभित्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु।
मरुद्भिरग्न आ गहि।।8/9।।

अभि सम्मुख व्याप्त होकर **त्वा** तुममें (हे आत्मयज्ञ) **पूर्व** पूर्व काल से, पहले भी **पीतय** पीकर अर्थात ज्वालाओं में ग्रहण कर तुमने **सृजामि** हमारा सृजन किया बारम्बार **सोम्यम** जीवन ज्योतियों के, सोम अमृतमयी जीवन रश्मियों **मधु** के माधुर्य से हमने फिर फिर पाया नया जन्म और जीवन ! **मरूत** हे प्राणवायु **अभि** पुनः सम्मुख व्याप्त हो **अग्न** आत्मयज्ञ की ज्वालाओं के **आ गहि** आकर ग्रहण हो, सदा की भांति, अपने इकलौते उद्धारक आत्मयज्ञ में।

जीवन के सूत्रों का सूक्ष्म सत्य उजागर करती ऋषि की युगान्तर वाणी ! वेद रूपी अमृत का पान करते गुरूकुल के निष्पाप, भोले, निर्मल, कोमल मन; भरते मन के रीते घट ! अब क्या आसक्त–जगत की मैल इन्हें कभी भी छू पायेगी ? इनके सामने गुरूदेव ने जीवन के रहस्यों का उजागर, निसन्देह रूप से, सचराचर के साक्ष्य प्रमाणों तथा प्रकृति के अटल नियमन से सन्दर्भित करके, जीवन के मूल लक्ष्य को स्पष्ट कर दिया है। एक उज्जवल, अमर भविष्य अनन्त के लक्ष्य के रूप में इनके मन में पूरी तरह से अमिट होकर बैठ रहा है। क्या वे अब क्षुद्र भौतिक हित साधन के लिये असत्य एवं पाप का सहारा लेंगे ? समाज के स्वरूप को कभी भी गन्दा, घिनोना अथवा विकृत करना चाहेंगे ?

मनुष्य का लक्ष्य से हीन जीवन प्रेतावस्था से भी कहीं अधिक निकृष्ट होता है। पेट भरना, परिवार पालना, डिग्री और पद सहित धन और सुविधाओं के पीछे, स्वयं से अनभिज्ञ, स्वयं से अन्धे होकर अन्धे धृतराष्ट्र भान्ति जीवन क्षणों के कुल का नाश करते, भस्मी में लौट जाना, कदापि लक्ष्यपरक जीवन नहीं हो सकता। जीवन के शाश्वत मूल्यों एवं प्रकृति प्रदत्त

उद्देश्यों को जानने के लिये उसे उसका सूक्ष्म आत्मदर्शन, निज स्वरूप एवं जीवन को जानना, आरम्भिक शिक्षा में ही परमावश्यक है। उपरान्त शिक्षा में भी इसका महत्व नगण्य हो जायेगा। भरे घड़ों में पानी भरना आसान नहीं हुआ करता। कोमल बाल्यावस्था के खाली मन के घड़े ही पूरी तरह आत्मपरक ज्ञान से भरे जा सकते हैं। गुरूकुल इसी सोच का पूर्ण पक्षधर है।

पूर्व के ऋषि मधुच्छन्दा तथा वर्तमान ऋषि मेधातिथि काण्वः ने इसे संशयरहित रूप से अपनी ऋचाओं में हमारे सम्मुख रखा है। प्रत्येक ऋचा, आगे आने वाली ऋचा से एक गीत, एक धारा, एक ही दिशा में उसी प्रकार निर्बाध रूप से गुंथी हुई है, जैसे मोतियों की माला। प्रत्येक शब्द अर्थ सहित हमें एक ही धारा में बहाये लिये जा रहे हैं। इसका भान हो जाये तो सबकुछ स्वतः ही स्पष्ट होने लगता है। आधुनिक भाष्यकारों ने सात आसमानों {सप्त लोक} को ही दिशा मानकर जब इन्हें स्पष्ट करना चाहा तो सबकुछ भ्रमित होता चला गया। आत्मपरक अन्तर्मुखी धारा के विज्ञान को भौतिकताओं में घसीटना कुछ ऐसा ही है जैसे कोई सागर की सतह पर पानी के ऊपर रेलगाड़ी चलाये।

आठवें सूक्त का समापन हुआ है। गुरूकुल शिक्षा के इस विलक्षण स्वरूप का हमने अभी परिचय भर ही पाया है। इन ऋचाओं की गहराईयों में अभी कुछ और भी है।

।। नवम् सूक्तम्।।

अयं देवाय जन्मने स्तोमा विप्रेभिरासया।
अकारि रत्नधातमम्।।9/1।।

अयम् पूर्व जन्म के शुभ कर्म **देवाय** अमर देवत्व में **जन्मने** जन्म धारण करने हेतु **स्तोमाः** आत्मयज्ञ के द्वारा **विप्र** तप, त्याग एवं वैराग्य **अभिः** सम्मुख व्याप्त धारण करके **आसया** स्थापित, आसीन, समाधिस्थ होकर **अकारि** कर्मफल के त्याग, कर्त्तापन भाव से मुक्त होकर, जीवन को आत्मनिमित्त तटस्थ भाव से धारण करते हुए **रत्नधातमम्** आत्मयज्ञ से ही सन्तुष्ट रहते हुए, आत्मतृप्ता को ही धन ऐश्वर्य एवं उपलब्धि मानते हुए जीना है। अनन्त के लक्ष्य को पाना है।

सत्यनिष्ठ, ईमानदार, परिपक्व मानसिकता इसी में है कि अपने अन्तर्भूत उत्पत्ति के रहस्यों को जानकर, उनके उत्पत्ति के कारण को स्पष्ट करता हुआ, उसी उद्देश्य के हित में जीवन को धारण करूं। आत्मयज्ञ ही मुझे उत्पन्न कर रहा है। माता पिता उसके निमित्तमात्र हैं। इससे भी स्पष्ट है कि सम्पूर्ण वाह्य जगत के प्रति मेरे मात्र निमित्त सीमित धर्म हैं। आत्मयज्ञ के प्रति मेरे सम्पूर्ण सत्य धर्म हैं। पूर्व जन्म के संचित पुण्य कर्म तथा इस जन्म में आत्मनिमित्त तटस्थ अकर्त्तापन के साथ विरक्त भाव से, निमित्त दायित्वों को निमित्त भाव से धारण करता, त्याग, वैराग्य, अनासक्त भाव से जीते हुए, सदा आत्मा में सम्मुख व्याप्त रहूं। इच्छा एवं कामना यदि करूं भी तो केवल आत्मयज्ञ से। यही सत्य धर्म सृष्टि में सिद्ध है। यदि आसक्त वाह्य जगत व्यवहार सत्यधर्म होता तो आत्मयज्ञ के स्थान पर मनुष्य, स्वयं ही उत्पत्ति के सक्षम होता। स्वयं ही धूल से शिशु को प्रकट करने की सामर्थ्य तथा निरन्तर शरीर में उत्पत्ति के ज्ञान से वरद होता। परन्तु ऐसा प्रकृति में नहीं है। इससे आत्मनिमित्त धर्म ही सत्य है।

य इन्द्राय वचोयुजा ततक्षुर्मनसा हरी।
शमीभिर्यज्ञमाशत।।9/2।।

य जो **इन्द्राय** इस महान उद्देश्य के लिये **वचः** आत्मयज्ञ रूपी सूर्य से **युजा** योग कर गया, युक्त हो गया। **तत्** ऐसे, इसप्रकार **अक्षु** अन्तर्दृष्टि से युक्त **मनसा** मन को **हरी** हरण करक, बान्ध करके अन्तर्मुखी सत्य से बन्धकर **शमः** शमन अर्थात भौतिक असत्य का दमन करता **अभि** सम्मुख व्याप्त होकर **यज्ञम** आत्मयज्ञ में **आशत** आकर समाधिस्थ हुआ, वही सत्य की राह पाया।

सत्य का विलोम भी सत्य हो जाये, ऐसा तभी हो सकता है, जब कोई पूरी तरह से भ्रमित होकर, असत्य को ही सत्य मान बैठे। भौतिक दृश्यमात्र जो कुछ भी है, आत्मयज्ञ की परछांई भर ही है। परछांईयां सत्य का रूपहला आभास भर ही दे सकती हैं। सत्य तो कदापि नहीं हो सकती। मेरा जन्म, मृत्यु, पुनर्जन्म, सबकुछ आत्मयज्ञ के द्वारा ही सम्भव है। जीवन का प्रत्येक क्षण, श्वास, ऊर्जा, सामर्थ्य, बुद्धि , विचार एवं विवेक सबकुछ आत्मयज्ञ के द्वारा ही प्राप्त होता है। आत्मयज्ञ को

नकार कर भौतिक दृश्य जगत को ही सत्य मान लेना, किसी भी प्रकार से सत्य नहीं हो सकता। आत्मस्थ यज्ञ को राह मानकर, वाह्य जगत में आत्मयज्ञ के निमित्त होकर जीना है।

तक्षन्नासत्याभ्यां परिज्मानं सुखं रथम्।
तक्षन् धेनुं सबर्दुघाम्।।9/3।।

तक्षन् काट छांट कर घड़ने वाला, बढ़ई, लकड़हारा **ना** हम सबको **सत्याभ्याम्** जीवन्त सत्य के रूप में उत्पन्न करने वाला **परिज्मानम** हर ओर सबको जन्मने प्रकट करने वाला **सुखम्** अतिशय सुखधाम **रथम** देहों, शरीरों में आत्मयज्ञ के रूप में **तक्षन्** वही बढ़ई, काट छांट कर रूप देने वाला **धेनुम्** गऊ माताओं में **सबर्दुघाम** हर ओर दूध को भी प्रकट करने वाला है। जन्मता भी वही है तथा माता को शिशु के आहार, दूध से सराबोर भी करता वही है।

गुरूकुल में छात्र अपने होने के मूल सत्य से परिचित हो रहे हैं। जिसप्रकार बढ़ई लकड़ी को काट छांटकर उसे नये जीवन्त से लगने वाले मनोहर खिलौनों में प्रकट कर देता है। उसमें सुन्दर नक्काशी, चित्रकारी से उसे सुसज्जित कर चित्ताकर्षक बना देता है। उसी प्रकार पेड़ों के अन्न, फल, वनस्पितियों से किसने गर्भ में काट छांट कर बनाया तुझे ? माता ? कदापि नहीं ! उसे तो एक जीवन्त कोश भी बनाना नहीं आता ! फिर कौन ? आत्मयज्ञ ही तो ! वही जन्मता है हम सबको, माता पिता को, सम्पूर्ण सचराचर को ! वही वरद करता माता को दूध की गंगा से। जिससे पल सकें उसके लाल !

युवानापितरा पुनः सत्यमन्त्रा ऋजूयवः।
ऋभवो विष्ट्यक्रतः।।9/4।।

युवाना हमारे युवा पितरों (पेड़ों तथा वनस्पतियों को मनुष्यों का पितृ वेद में कहा गया है। पितृयान चिता की लकड़ियों को कहते हैं तथा देवयान आत्ममार्ग से जाने को कहते हैं।) ने जिनके अन्नादिक से हम उत्पन्न हैं **पुनः** फिर से **सत्य** प्रकृति को **मन्त्रा** अभिमंत्रित किया, ग्रहण कर यज्ञ के द्वारा अभिमन्त्रित कर **ऋजू** जीवन्त उत्पत्ति के हित में **यवः** अन्नादिक उत्पन्न किया तथा **ऋभवो** पुनर् उत्पत्ति के हित में **विष्ट्यक्रतः** हर ओर छितरा दिया। नित्य नूतन सृष्टि के हित में।

मैं लौटता हूं इस सचराचर में अपने पितरों अर्थात पेड़ों वनस्पतियों की कृपा यज्ञों के द्वारा। वे ही यज्ञ से बारम्बार उत्पन्न करते अन्नादिक बीज, जिससे निरन्तर हो सकें, जीवन की सांसें और धड़कने। आगे बढ़े वशं और सम्पदा। ये पूज्य एवं वन्दनीय हैं हमारे ! हम पूजा करें इनकी। बारम्बार यज्ञों के द्वारा ये करते हमारा भरण पोषण आत्मयज्ञों के संयोग से। इन्हीं के गोद में हम करते प्रयाण पितृयान से। पुनः पाते उद्धार, इनके द्वारा अन्नादिक में। अन्न से माता के गर्भ में आत्मयज्ञों के द्वारा होता उद्धार पुनः शिशु के रूप में। यही तो है आवागमन ! ये पितर हैं हमारे। हम इनकी वंश संस्कृति हैं।

सनातनधर्म में पेड़, पौधों, वनस्पतियों आदि की पूजा के नाना विधान की पृभठ भावना यही है। वेद में इसी भावना को ऋषि इसी गहरायी से छात्रों को स्पष्ट कर रहे हैं। पेड़ों वनस्पतियों से उनका अभिन्न सम्बन्ध है। उनका अनादर, द्रोहन अथवा विनाश अपने ही पूर्वजों की हत्या के पाप के समान है।

सं वो मदासो अग्मतेन्द्रेण च मरूत्वता।
आदित्येभिश्च राजभिः।।9/5।।

सं संयुक्त होकर **वो** उनको, हम सबको **मदासा** मस्ती, आन्नद, जीवन के रोमांच से **अग्** आड़े तिरछे, अटपटे से **मतः** मति वाले अर्थात भटकने वाले, हमलोग, जब अर्पित होते **इन्द्रेण** मन इन्द्रियों **च** तथा **मरूत्वता** प्राणों सहित, आस्था, श्रद्धा एवं अंतिम समर्पित भाव सहित **आदित्य** आत्मयज्ञ रूपी सूर्य के होते **अभिः** सम्मुख व्याप्त **च** तथा **राज** ज्योतियों के **अभिः** सम्मुख व्याप्त, पाते अमर मस्ती और अमर राह !

असत्य, अज्ञान, भौतिकताओं, विषयासक्तियों में भटकते मन भी जब आत्मयज्ञ की राह पा जाते हैं तो वे भी आत्मा की अनन्त मस्ती के रोमांच से वरद होकर जीवन के मूल लक्ष्य को धारण करते अमर राह पा जाते हैं। आत्मयज्ञ ही हम सबका उद्धारक है। अतीत के भटकावों एवं पापों का सर्वनाश करने वाला है। पतित पावन है। रामचरितमानस में भी शबरी को उपदेश करते हुए भगवान श्रीराम, महाविष्णु के लीलावतार, कहते हैं कि जिस क्षण जीव मेरे (घटघटवासी आत्मयज्ञ ही श्रीराम की लीला में) सम्मुख होता है, मैं तत्क्षण उसके कोटि (करोड़ों)

जन्मों के पापों का नाश कर देता हूं। इसप्रकार स्पष्ट है कि वेद में बीज भण्डार है तथा इन्हीं बीजो से सभी सनातन धर्म के आदि ग्रन्थों की बगिया सजी हुई है। सभी एक ही सत्य की पुनरावृति है।

उत त्यं चमसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्।
अकर्त्त चतुरः पुनः।।9/6।।

उत आत्मज्योतियों के प्रति त्यम् जिनकी चमसम सोमरस के पात्र अर्थात शरीर के प्रति नवम् नवीन उद्धार, नित्य स्वरूप के लिये, वे त्वष्टुः काटते छांटते अपनी भूलों मनोवृतियों को एक बढ़ई की भांति देवस्य आत्म तत्व की प्राप्ति के हित में मांज कर स्वयं को आत्मयज्ञ में निष्कृतम| निष्कृत अर्थात मिटाकर अद्वैत कर जाते आत्मयज्ञ से। अकर्त्त आत्मा के ही निमित्त, अकर्तापन के भाव से वे चतुरः चतुर सुजान, आत्मज्ञानी, पुनः फिर से पा लेते जीवन का अभीष्ट पथ।

जिन्होने संशय, भटकाव और आसक्तियों को निदर्यता पूर्वक काट छांट कर, मांझकर, मिटाकर पुनः आत्मयज्ञ की शरण ली, आत्मयज्ञ के लिये नूतन जीवन का निर्माण किया तथा आत्मयज्ञ में अद्वैत कर अपने अस्तित्व को ही मिटा दिया एवं जगत में अकर्तापन के भाव से आत्मनिमित्त होकर जिये। जिन्होंने आत्मयज्ञ को ही अपना सर्वस्व मानकर उसे ही अर्पित हो जीवन को धारण किया, ऐसे अकर्ता ही चतुर सुजान हैं, तत्व को जानने वाले हैं। वे ही पाते नूतन अमर सृष्टि, आत्माद्वैत एवं आत्मा का ही पद !

ऐसा लगता है जैसे हम श्रीमद्भगवतगीता के श्लोकों पाठ सुन रहे हैं। अथवा किसी उपनिषद की चर्चा में व्याप्त हो गये हैं। जैसे बीज, वैसी ही वाटिका ! वेद के ही अमृत ज्ञान को छात्रों को लीलाग्रन्थों, लीला कथाओं, पुराणों तथा उपनिषदों के द्वारा, सरल, सरस, मनोहारी, रोचक तथा सहज ही बोधगम्य बनाकर छात्रों को आचरण सहित हृदयगंम कराना ही गुरूकुल का उद्देश्य है। विद्या की देवी सरस्वती (सरस ज्ञान दायनी) है।

ते नो रत्नानिधत्तन त्रिरासाप्तानि सुन्वते।
एकमेकं सुशस्तिभिः।।9/7।।

ते ऐसे ना हमलोगें को रत्नानि मोक्ष रूपी ऐश्वर्य रत्न को त्रिरास त्रैलोकश्वर, परमेश्वर, आत्मयज्ञ, आप्तानि व्याप्त परिपूर्ण करने वाले सुन्वते उत्पन्न करते हैं। एकमेकम अकेले एक वे ही, मात्र वे अकेले ही सुशस्ति दिव्य परमपद का सम्मान अभिः सम्मुख अथवा प्रदान कराने में समर्थ हैं।

वे जो जीवन के सम्पूर्ण एश्वर्य, उपलब्धियां, आयु आदि सर्वस्व जीव को प्रदान करने वाले हैं। वे जो आत्मयज्ञों के द्वारा उसे मूल्यवान जीवन प्रदान करने वाले तथा जीवन का निरन्तर संचालन आत्मयज्ञों के द्वारा करने वाले हैं। जीव को सोच, समझ, बुद्धि, विवेक तथा सद् गुणों को प्रदान करने वाले हैं। वे ही समर्थ हैं उसे देवत्व में सम्माति एवं प्रतिष्ठित कराकर मोक्ष प्रदान करने में।

हे अर्जुन ! देवों को भजने वाले देवों को प्राप्त होकर पुनः आवागमन को प्राप्त होते हैं। पितरों को भजने वाले यथा पितृ लोकों को प्राप्त होकर पुनः मृत्युलोक में आकर आवागमन को प्राप्त होते हैं। परन्तु मुझको (श्री कृभण, जो आत्मयज्ञ के लीलावतार हैं। आत्मा हैं।) भजने वाले मेरे ही परमधाम को अर्थात मुझको ही प्राप्त होते हैं। उनकी फिर पीछे आने की गति नहीं होती है।

श्रीमद् भगवतगीता में जीवन रूपी महाभारत के महासमर में जीव रूपी अर्जुन तथा आत्मा के रूप में श्रीकृष्ण का लीलामय वार्तालाप तथा उपरोक्त ऋचा एक समान एक ही तत्व को प्रकट करते हैं। कालान्तर में अज्ञान के वशीभूत समाज ने लीला के उद्देश्य को भूलकर मात्र लीला उदाहरण को ही सर्वस्व मान लिया। (इसका विस्तार **रहस्यलीला ! जादू और जादूगर।** ग्रन्थ में तथा **श्रीमद्भगवतगीता ! दिव्य दर्शन !** ग्रन्थ में देखें)

अधारयन्त वह्नयोऽभजन्त सुकृत्यया।
भागं देवेषु यज्ञियम्।।9/8।।

अधारयन्त धारण करने के अयोग्य, अधःपतन को प्राप्त, नष्टप्रायःअवस्था को प्राप्त हो गये जो वह्नयो हे ब्रह्मज्वाला अभजन्त विस्मृत हो गये जो जिन्हें उनके ही लोगों ने भुला दिया उनका भी, हे

आत्म यज्ञ ! आपने **सुकृत्यया** सुन्दर उद्धार किया, वे भी आपसे उपकृत हुए, **भागम्** यज्ञार्पित होकर **देवेषु** जीवन और देवत्व के **यज्ञियम्** यज्ञों में पुनः स्थान पाये। उन्हें फिर आत्मयज्ञ ने उपकृत किया। दुर्लभ जीवन से वरद किया। उन्हें फिर अवसर दिया कि वे आत्मयज्ञ को अर्पित होकर, अनन्त में स्थापित हो सकें। हे आत्मयज्ञ! पतित एवं पापी का भी आप उद्धार करने वाले हैं।

इसप्रकार नवम् सूक्त का समापन हुआ। वेद की प्रत्येक ऋचा जीवन, सृष्टि एवं उत्पत्ति के अन्तःनिहित गूढ़ रहस्यों का सन्देहरहित अनावरण है। इसकी धारायें उसी दिशा में प्रवाहित हैं जिनकी कल्पना हमने "ज्योतिर्वेद के विभिन्न सोपान" ग्रन्थमाला के तीनों खण्डों में की है।

।। दशम् सूक्तम्।।

इहेन्द्राग्नी उप ह्वये तयोरित्स्तोममुश्मसि।
ता सोमं सोमपातमा।।10/1।।

इह जीवन जगत (इहलीला) को **इन्द्र** महान अमर **अग्नी** ब्रह्मज्वालाओं में **उप** व्याप्त कर **ह्वय** यज्ञ को प्राप्त हवन हो **तयो** उनमें **इत** इस प्रकार **स्तोमम** अर्पित यज्ञ होकर **उश्म** रश्मियों को प्राप्त **असि** होकर **सोमम** अमर सोम ज्योतियों का **सोमपातमा** सोम ज्योतियों का पात अर्थात दीक्षित हो, ज्योतिपात से वरद हो।

अज्ञानी जन परमेश्वर से भौतिक सुखों एवं समृद्धि की कामना करते हैं। पुत्र, धन धान्य एवं अचल सम्पत्ति की कामना करते हैं। अपरिपक्व मानसिकता के स्तरों पर जीव स्वभावतःही ऐसा करते हैं। परन्तु परिपक्व मानसिकता के स्तर पर इनका महत्व तथा साथ क्षणभंगुर ही है। परिपक्व के स्तरों पर जीव यज्ञ से अनन्त परमपद की ही तो आकांक्षा करेगा। जो नित्य नहीं, उसे मांगना कैसा ? नित्य पुरूष परमेश्वर से नित्य अवस्था की मांग ही तो सर्वथा उचित होगी। गुरूकुल के छात्र परिपक्व मानसिकता के स्तरों को छूते आत्मयज्ञ से यही मांग कर रहे हैं। आत्मयज्ञ के परे उनके अस्तित्व शून्य मात्र हो जाते हैं। उनका कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। इसीलिये आत्मयज्ञ में व्याप्त होकर यज्ञ का नित्य स्वरूप पाना चाहते हैं। जिससे बारम्बार

उन्हें अस्तित्वहीन होकर पुनः शून्य से आरम्भ नहीं करना हो। यह सर्वथा उचित भी है।

ता यज्ञेषु प्र शंसतेन्द्राग्नी शुम्भता नरः।
ता गायत्रेषु गायत।।10/2।।

ता ऐसे जो लोग **यज्ञेषु** यज्ञों द्वारा यज्ञमय होकर **प्र** व्यापकता से, सम्पूर्ण भाव से **शंसतः** पूर्ण प्रतिष्ठा, यज्ञ को जीवन में समानित करना अर्थात यज्ञ से एकाद्वैत करना, यज्ञ के ही निमित्त होना **इन्द** महान **अग्नो** अग्नियों में आत्मयज्ञ की **शुम्भता** यज्ञ होकर देदीप्यमान, प्रज्वलित होता **नरः** यज्ञ की प्रलयाग्नियों में **ता** ऐसे भक्त ही **गायत्रेषु** गायत्रियों को सही रूप से जानने, धारण करने वाले तथा **गायत** गाने वाले हैं।

वे जो जीवन में आत्मयज्ञ को करते सम्मानित, आत्मयज्ञ के निमित्त बनकर, करते जीवन को धारण, यज्ञ के प्रति निरन्तर रहते गतिमान, वे पाते परम उद्धार ! आत्मयज्ञ की ज्योतियों से दीप्त प्रदीप्त होकर, पाते अमर पद ! मुक्त होते आवागमन से ! वे ही जानते गायत्री मन्त्र के रहस्य !

"तत्सवितुर्वरेण्यम्" ऐसे सविता अर्थात सूर्य के सदृश्य आत्मयज्ञ का वरण करता हूं। जीवन का वरण होने से जीवन तो पूर्ण रूपेण आत्मयज्ञ को अर्पित हो गया। पुनः किसी अन्य का वरण तो पाप एवं अपराध होगा ? वाह्य जगत जीवन को आत्मनिमित्त मानकर ही, जगत रूपी नाट्यशाला में निमित्त पात्रता भर ही जिये जो, उन्हीं का मन्त्र सार्थक हुआ। शेष सभी के मन्त्र अभिशप्त होकर रह गये। गायत्री मन्त्र को तीन शाप भी हैं, ब्रह्मा, वसिष्ठ एवं विश्वामित्र द्वारा गायत्री अभिशप्त है !

ता मित्रस्य प्रशस्तय इन्द्राग्नी ता हवामहे।
सोमपा सोमपीतये।।10/3।।

ता जिन्होंने **मित्रस्य** महाप्रलय के हित में मित्र आदि द्वादश आदित्यों को आत्मयज्ञ में **प्रशस्तये** प्रज्जवलित प्रतिष्ठित किया तथा **इन्द्राग्नी** महान ब्रह्मागिनयों में **ता** उन्होंने स्वयं को **हवाम** हवन यज्ञ किया **अह** अहो ! **सोमपा** (सोम+अपा) आत्मज्योतियों के जल में अर्पित होकर **सोमपीतये** आत्म ज्योतियों रूपी जल का पान किया, वे ही अमर हुए ! उन्होंने ही पाये गायत्री मन्त्र के रहस्य !

गायत्री मन्त्र को शापमुक्त करने की चर्चा हमें पौराणिक काल में भी नाना तथाकथित उपचार सहित मिलती है। परन्तु सही अर्थों में अभिशाप एवं उपचार जो वेदोक्त है, वह इस प्रकार है।

1. जिसने गायत्री मन्त्र को आत्मयज्ञ के रूप में धारण नहीं किया, उसका मन्त्र ब्रह्मा अर्थात आत्मा से ही अभिशप्त है। इसका उपचार आत्मवत धारण करना ही है।

2. जो मन्त्र को ही इष्ट बनाकर इसमें नित्य स्वरूप बसा नहीं उसका मन्त्र वसिष्ठ (वसति इष्टम् इति) से अभिशप्त है। गायत्री मन्त्र को नित्य अपना इष्ट बनाकर ही शाप मुक्त हुआ जा सकता है।

3. जिसने गायत्री मन्त्र को सचराचर के हित में धारण नहीं किया उसका मन्त्र विश्वामित्र (विश्वस्य मित्रः इति) से अभिशप्त है। मन्त्र को सचराचर के हित जीवन्त धारण करना ही शाप से मुक्ति है। कोरे भजन पाठ करने की परम्परा सनातन धर्म में नहीं है।

उग्रासन्ता हवामह उपेदं सवनं सुतम्।
इन्द्राग्नी एह गच्छताम्।।10/4।।

उग्रा उग्र प्रलयंकर होती आत्मज्वालाओं में **सन्ता** विनम्र करबद्ध **उप** व्याप्त **सवनम** आत्मज्योतियों में सवन स्नान लेता **सुतम** पुनर्जन्म को धारण कर **इन्द्रः** महान आत्मा की **अग्नी** अग्नियों का **एह** आलिंगन करता अनन्त की ओर **गच्छताम** प्रयाण कर।

यज्ञ के रहस्य, कारण एवं मन्तव्य अर्थ एवं भाव सहित स्पष्ट होते जा रहे हैं। प्रत्येक ऋचा सुस्पष्ट अर्थपूर्ण ढंग से उद्देश्य को सन्देहरहित स्पष्ट करती चल रही है। यज्ञ के द्वारा ही सृष्टि होती है। यज्ञ ही उत्पत्ति का मूल है। वाह्य प्रतीक यज्ञ को सामने रखकर यह सब अटपटा सा, अबूझ पहेली सा बनकर रह गया था। वेद के ऋषि के सूक्त से सबकुछ समझ आने लगा है।

आत्मयज्ञ से उत्पन्न होता है सचराचर, हम सब लोग। आत्मयज्ञ से ही भविष्य में भी उत्पन्न होंगे हम सब। आत्मयज्ञ से ही पाते हैं, जीवन का प्रत्येक क्षण, सामर्थ्य और विवेक। आत्मयज्ञ में ही व्याप्त होकर हम पायेंगे अनन्त में वास। क्या अब भी इस विषय में हमें कोई सन्देह बाकी रह सकता है ? हमने निमित्त खिलोने को ही मूल यज्ञ समझने की भूल

की थी। इसीलिये सबकुछ विचित्र सा, कुछ असंभव सा लग रहा था। ऋषि ने सब सन्देह मिटा दिये हैं। हम हाथी के चित्र को ही हाथी समझने की भूल कर बैठे थे। इसलिये उसकी सामर्थ्य, शक्ति पर हमें विस्मय, सन्देह और अविश्वास होना स्वभाविक ही था। जब सचमुच का हाथी देख लिया तो सब भ्रम मिट गये। यही अवस्था हमारी यज्ञ में है। यज्ञ वेद विज्ञान की अनुपम धारा है।

ता महान्ता सदस्पती इन्द्राग्नी रक्षउब्जतम्।
अप्रजाः सन्त्वत्रिणः।10/5।

ता उन **महान्ता** अति महान **सदस्पतो** अतिशय कल्याणकारी **इन्द्राग्नो** ब्रह्माग्नियों में **रक्ष** उद्धार हेतु **उब्जतम** स्वयं को भस्म कर दे, डूब जा। **अप्रजाः** होकर अकिंचन, सम्पूर्ण इच्छाओं एवं उपलब्धियों से वंचित **सन्त** सरल निर्मल होता **अत्रिणः** ज्योतिर्मय ज्वजाल्यमान अमर जीवन, को सूर्य के सदृश्य, धारण कर।

हमारे सामने जीवन की उत्पत्ति, सृष्टि एचं प्रलय के सूक्ष्म रहस्यों को जानने का परम लक्ष्य है। इसी मूल उद्देश्य को लेकर हमने अपनी यात्रा **ज्योतिर्वेद के विभिन्न सोपान** नामक शोध ग्रन्थ माला से प्रारम्भ की है। खोज को सुर एवं असुर विचारधारा के क्षेत्रों में खोजना होगा। हम किसी भी निर्णय में जल्दी नहीं कर सकते। सुर विचारधारा का क्षेत्र, शरीर के भीतर हो रही यज्ञ से उत्पत्ति के रहस्यों का सूक्ष्म दर्शन है। असुर विचारधारा में उत्पत्ति के रहस्यों को अपने से दूर, बाहर खोजने की परिपाटी है। दोनों ही क्षेत्र असाधारण, व्यापक तथा अति महत्वपूर्ण हैं। चारों वेदों के ऋषि इन रहस्यों को अपने भीतर खोजने के पक्षधर हैं।

तेन सत्येन जागृतमधि प्रचेतुने पदे।
इन्द्राग्नी शर्म यच्छतम्।।10/6।।

तेन उनको, उनमें **सत्येन** प्रकृति, जीव, हम सब लोग **जागृतम्** जीवन्त प्रकट होते **अधि** सम्मुख व्याप्त होकर **प्रचेतुने** पाते पूर्ण चैतन्यता **पदे** सम्मान एवं प्रतिष्ठा **इन्द्र** महान **अग्नी** आत्मयज्ञ की अग्नियों में व्याप्त होकर **शर्म** सुखपूर्वक परमानन्दित **यच्छतम** अनन्त की ओर गमन करे।

जीवन की इस अनन्त यात्रा तथा सृष्टि, उत्पत्ति एवं आवागमन के रहस्यों को वहीं जाकर खोजना होगा जहां वे प्रकट होकर नित्य सृष्टि में संलग्न हैं। ऐसी अवस्था प्रत्येक जीव की देह में नित्य क्रियात्मक है। यह स्थान यथा जीव के लिये सहज गम्य है। क्योंकि जीव उसी स्थान पर अवस्थित है तथा सबकुछ उसी के हित में आत्मयज्ञ द्वारा हो रहा है। अन्यत्र स्थान पर जाकर रहस्यों को उनकी क्रियात्मक अवस्था में जानना अति दुष्कर, लगभग असंभव ही है। वाह्य अनाधिकार प्रवेश से क्रियात्मकता मृतप्राय हो जाती है। जीवनयज्ञ शेष हो जाता है। ऐसी अवस्था यज्ञ का मृत ज्ञान भले ही मिल जायें परन्तु उसका जीवन्त क्रियात्मक अवलोकन तो कदावि नहीं हो सकता। इसीलिये वेद के सभी ऋषि इस सत्य को स्वयं में खोजने के मार्ग के ही पक्षधर हैं।

इस प्रकार दसवें सूक्त का समापन हुआ। पूर्व ऋषि मधुच्छन्दा में हमने यज्ञोपवीत के रहस्यों का विस्तृत ज्ञान एवं यज्ञ के सूक्ष्म ज्ञान के रहस्यों को विस्तार से जाना था। वर्तमान ऋषि ने वाह्य निमित्त यज्ञ एवं आत्मयज्ञ के रहस्यों को स्पष्ट किया है। अभी वर्तमान ऋषि के बाकी दो सूक्तों का पाठ हमें करना है। हमारी यात्रा आरम्भ से ही पूर्ण फलप्रद रही है। हमनें अपने लक्ष्य के हित बहुत कुछ अति महत्वपूर्ण ज्ञान रहस्य पाया है। बहुत सी भ्रान्त धारणओं से हम सचेत भी हुए हैं। हम अपनी खोज यात्रा से उत्साहित हैं।

।। एकादश सूक्तम्।।

प्रातर्युजा विबोधयाश्विनावेह गच्छताम्।
अस्य सोमस्य पीतये।।11/1।।

प्रातः ब्रह्ममुहूर्त्त में, जीवन के आरम्भ रूपी भोर में **युजा** जुड़ गये जो **वि** विशिष्ठ **बोधय** ज्ञान पाया जिसने **अश्विनाः** ब्रह्मज्वालाओं से **वह** धारण करने का, उत्पत्ति को वहन करने का **गच्छताम्** आत्मयज्ञ में जाकर **अस्य** ऐसे तपस्वी ज्ञानी **सोमस्य** आत्मज्योति रस का अमृत **पीतय** पान करते हैं। अमर हो जाते हैं।

गुरूकुल शिक्षा का मन्तव्य पूरी तरह से खुलकर सामने आ गया है। आत्मज्ञान का बोध हो तो जीवन के भोर में ही होना चाहिये। मन के खाली घड़े को आरम्भ में ही भरा जा सकता है। भरे घड़ों को फिर से

खाली करके भरना यदि असम्भव नहीं तो सहज सम्भव भी कदापि नहीं है। आधुनिक शिक्षा ने गुरूकुल शिक्षा के इस अमृत विचार को खोकर शिक्षा को उद्देश्यहीन एवं अभिशप्त सा बनाकर रख दिया है। जहां अध्यात्म नहीं, वहां मानवीय मूल्यों की चर्चा कोरा पाखण्ड, अर्थहीन और बेमतलब की चर्चा से अधिक कुछ भी नहीं है। आरम्भिक काल में ही अबोध मन में संस्कार बीजे जा सकते हैं। उपरान्त में जो कुछ भी वह ग्रहण करता है, उससे संस्कारित नहीं होता वरन उससे पूर्व में ग्रहण किये गये संस्कार के हित साधन ही करता है। आसक्त मन की पूजा भक्ति भी आसक्तियों की नित पूर्ति के लोभ हित साधन में ही होती है। प्रभु पाने अथवा जीवन के सूक्ष्म सत्य के हित में तो कदापि नहीं। यह स्वयं में ही अकाट्य स्पष्ट उदाहरण है।

या सुरथा रथीतमोभा देवा दिविस्पृशा।
अश्विना ता हवामहे।।11/2।।

या जो **सुरथा** दिव्य भावना से देह को धारण करने वाला **रथीतमोभा** देह को आत्मयज्ञ के हित में ज्योतिर्मय पवित्र तथा आत्मा की आभा से युक्त करने वाला है तथा **देवा** आत्मयज्ञ का **दिविस्पृशा** नित्य प्रति स्पर्श अर्थात नित्य युक्त है अर्थात अटल योग करने वाला है, **अश्विना** ब्रह्मज्वालायें **ता** ऐसे अथवा उन तपस्वियों को ही **हवामह** हवन यज्ञों मे ग्रहण कर अमरत्व प्रदान करती हैं, अहो !

रथ का अर्थ वाहन से है। जीव का वाहन, उसको वहन करने वाला शरीर है। वेद में शरीर के रूप में रथ शब्द का प्रयोग बहुतायत में मिलता है। जीव ही रथी अथवा महारथी तथा आत्मा का सम्बोधन सारथि है। यह सभी कल्पनायें वेदोक्त तथा महाभारत काल से पूर्व की हैं। सम्भव है महाकवि, ऋषि शिरोमणी वेदव्यास की कल्पना का स्रोत्र भी वेद ही रहा हो।

अमर कौन होगा ? जीवन के सूक्ष्म सत्य का ज्ञान कौन पायेगा ? जो इसे जीवन का परम लक्ष्य, परम एवं सर्वोपरि उद्देश्य बनायेगा। ऐसा वही तो कर पायेगा जिसके जीवन के आरम्भ में शिक्षा के द्वारा मूल उद्देश्य के रूप में प्रशस्त किया जायेगा। जोरू जतका (सन्तान) मकान

और भूख को ही सर्वोपरि जीवन उद्देश्य बनाने वाली शिक्षा में नैतिकता, मानवीयता तथा अध्यात्म की चर्चा महज़ एक विदूषक वाद ही तो है।

या वां कशा मधुमत्यश्विना सुनृतावती।
तया यज्ञं मिमिक्षतम्।।11/3।।

या जो **वाम** वामागं हुए, वरण कर अर्पित हुए **कशा** बन्ध गये, एकत्व को प्राप्त हुए **मधुमत्य्** विष से रहित, मधुर अमृत सदृश्य **अश्विना** ब्रह्मज्वाला, आत्माग्नि **सूनृतावतो** दिव्य मंगल उत्पत्ति को धारण करवाने वाली आत्माग्नि, **तया** उन ऐसों को **यज्ञम** आत्मयज्ञ में **मिमिक्षतम** मोक्ष रूपी अमृत लक्ष्य की प्राप्ती होती है। वे ही पाते हैं अमरपद !

वे जिन्होंने किया, ब्रह्मज्वालाओं आकर, व्याप्त होकर, आत्मा का वरण "तत्सतिुर्वरेण्यम्", बामांग हुए आत्मा के, मृत्यु रूपी विष का परित्याग करते, पाया नया अमृतमय जीवन आत्मयज्ञ में! ब्रह्मज्वालाओं के अमृत वरण से हुआ अमृतमय दिव्य मंगल, पाये जन्म नया। तप एवं साधना की राह पर वे पुनः आत्मयज्ञ में योगस्थ अर्पित हो पाये अमर अनन्त की राह। अतिशय मंगल कल्याण हुआ उनका। वे मोक्ष से वरद हुए।

नहिवामस्ति दूरकेयत्रा रथेनगच्छथः।
अश्विना सोमिनो गृहम्।।11/4।।

नहि व्याप्त होकर, ओढ़कर **वामस्ति** वामस्थ स्थित होकर **दूर क** अनन्त की **यत्रा** यात्रा में आत्मज्वालाओं के दिव्य **रथेन** रथ पर आरूढ़ होकर **गच्छथः** जाते हैं वे लोग **अश्विना** आत्म ज्योतियों के **सोमिनो** दिव्य अमर **गृहम्** घर अथवा लोक में।

मानव योनि के समीकरण के तीन प्रमुख अंग हैं; जीवात्मा, आत्मा तथा शरीर ! आत्मा जो परमात्मा का लीलावतार है तथा जीव के हित में शरीर का निर्माण, धारण, रक्षण एवं नित्य यज्ञ के द्वारा जीवंत रखता है। जीव अथवा जीवात्मा के हित में ऐसा करता है। जीवात्मा जो आत्मा का सखा है। नर एवं नारायण की जोड़ी की कल्पना का बीज स्वरूप है। आत्मा एवं जीवात्मा की युगल जोड़ी चिर यात्री है। शरीर अथवा योनि यात्रा का क्षणिक पड़ाव भर है।

क्या इस जन्म से पूर्व मैं नहीं था ? क्या इस जन्म के उपरान्त मैं फिर कभी नहीं होऊंगा ? क्या मैं एक जन्म मात्र ही हूं ? नहीं! कदापि नहीं !!

जीवात्मा ब्रह्मा का मानस पुत्र है। चिरयात्री है। आत्मा के साथ के साथ अनन्त की राह पर है। नीलाकाश में विचरण करती युगल मनोहारी जोड़ी है। दोनो ही अमर हैं। श्रीकृष्ण और अर्जुन की कल्पना का मूल हैं। अनन्त की यात्रा में आगे बढ़ते रहते हैं। सांझ के समय यह यथा किसी समीपस्थ लोक में विश्राम हेतु यथा योनि में उतर आते हैं। अगली भोर फिर आगे बड़ जावेंगे।

योनि ही क्षणिक ठहराव है। आत्मा तो रूकेगा नहीं। अपनी यात्रा पर अगली भोर चल देगा। उसे पड़ाव से कुछ लेना देना नहीं। यदि जीव आसक्तियों के वशीभूत भूल कर बैठा तो संग छूट जावेगा। उसे पतित प्रेत योनियों में भटकना पड़ सकता है। अनन्त काल तक प्रतीक्षारत रहना पड़ सकता है। उपरोक्त ऋचा इसी से संदर्भित है। यात्री हैं, आत्मयोग में सदा रहे।

हिरण्यपाणिमूतये सवितारमुप ह्वये।
स चेत्ता देवता पदम्।।11/5।।

हिरण्य सुनहरे, स्वर्णिम **पाणिम्** हाथ **ऊतये** ज्योतिर्मय रश्मियों से परिपूर्ण **सवितः** सूर्य के सदृश्य तेजोमय आत्मा, यज्ञ में **उप** सम्मुख, व्याप्त, अद्वैत **ह्वये** हवन सामिग्री सा यज्ञ में तिरोहित **स** ऐसा, वह, जीव, **चेत्ता** चैतन्य, जागृत, उत्पन्न हुआ उसने पाया **देवता** देवता का अमर **पदम्** पद।

गुरूकुल में छात्र वाह्य यज्ञ के सम्मुख, हवनकुण्ड में आहुतियां देते, वेद का गाान कर रहे हैं। परन्तु क्या वे सम्मुख वाह्य यज्ञ का ही स्तुति वन्दन कर रहे हैं? अथवा आत्मयज्ञ के द्वारा सचराचर में निरन्तर हो रहे सृष्टि यज्ञ के रहस्यों का अनावरण कर रहे हैं ? वाह्य यज्ञ वस्तुतः आत्मयज्ञ का निमित्त है। जिसप्रकार आत्मयज्ञ से जीवन का प्रत्येक क्षण प्रकट होता जीवन को निरन्तर करता है तथा आत्मयज्ञ के द्वारा ही जीव सन्तति से वरद होता है, छात्र उन्हीं यज्ञ के रहस्यों का अमृत

ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। यज्ञ से अमरपद की प्राप्ति होती है। ऐसा उन्होंने उपरोक्त ऋचा में जाना है।

यज्ञ के अधिष्ठित देव, आत्मा अनन्त के स्वर्णिम होठों में है अमर ज्योतिरस का कलश, जो पी पाये, हो अमर ! पाये देवता का पद महान ! जो यज्ञ में आकर मिटेगा, वही होगा अमर !

अपां नपातमवसे सवितारमुप स्तुहि।
तस्य व्रतान्युश्मसि।।11/6।।

अपाम् न पातम् अपवित्र अथवा पतन नहीं होता जिसका, नित्य एवं पवित्रा, आवागमन से मुक्त **अवसे** उत्पत्ति, ज्योतिर्मय अमर **सवितारम्** सूर्य के सदृश्य आत्मयज्ञ में **उप** व्याप्त, अद्वैत **स्तुहि** अर्पित अर्चन, वन्दन, योगस्थ **तस्य** ऐसे, इसप्रकार **व्रतान्य** आत्मयज्ञ व्रती, दृढ़ संकल्पित होकर **उश्मसि** तप की ऊष्मा को प्राप्त हों, ज्योति एवं तप को धारण करें।

आहुतियां भले ही बटुक वाह्य यज्ञ में अर्पित कर रहे हैं परन्तु प्रत्येक ऋचा उनके अन्तःस्थल में व्याप्त गूढ़ रहस्यों को ही निरन्तर कुरेद रही है। दासता के आरम्भिक काल में ही गुरूकुल, ऋषिकुल विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा ध्वस्त कर दिये गये थे। ऋषि, मनीषी जन निहत्थे गाजर मूली सदृश्य काटकर चौराहों पर टांग दिये जाते थे, जिससे कोई भी व्यक्ति उनके धर्म के अतिरिक्त कोई भी अन्य धर्म की चर्चा न करे। ऐसा उन्होंने पूर्व काल में अन्य पारसी आदि धर्मों के साथ भी किया था। विश्वविद्यालयों को, धर्मग्रन्थों को जलाना, नष्ट करना, उनका धर्म सम्मत कार्य था। इन्हीं अन्तरालों में वेद मात्रा वाह्य आडम्बर भर बनकर रह गये। हज़ार से बारह सौ वर्षों के गम्भीर अन्तराल के उपरान्त, जब देश स्वतन्त्र हुआ तो भी शोध के नाम पर केवल धन से अपनो का ही भला करने वाले नेताओं, राजनीतिज्ञों, अफसर शाहों के चक्रव्यूह से इसका उद्धार नहीं हो पाया। आवागमन से मुक्त करने वाला, नित्य में स्थित करने वाला विज्ञान, वाह्य आडम्बर भर बनकर रह गया। जिसे एक महान जीवन विज्ञान का अमर स्थान मिलना था, उसे धर्मान्धता की मोहरें लगा कर भुलाने मिटाने के सारे प्रयोजन हुए। यदि

कभी इसे सामने लाने के प्रयास भी हुए तो भगवाकरण के नारे बुलन्द किये गये।

विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः।
सवितारं नृचक्षसम्।।11/7।।

विभक्तारम् छिन्न भिन्न, सूक्ष्म टुकड़ों में विसर्जित होते हुए **हवाम्** हवन यज्ञ में मिलते हुए **अहे** अहो ! **वसोः** वास करें, यज्ञ में ही बस जायें **चित्रस्य** नये रूप, नये जन्म हेतु **राधसः** गुन्थने के लिये, ज्योतियों में वास के लिये **सवितारम्** सूर्य के सदृश्य, आत्मा के सदृश्य **नृ** स्वरूप, शरीर को **चक्षसम** वेदज्ञान, आत्मज्ञान, सृष्टि विज्ञान से दीक्षित, पूर्ण पारंगत। **चक्षस** दीक्षा गुरू को कहते हैं। यह सम्मान केवल देवगुरू बृहस्पति को ही प्राप्त है। उनके नाम के रूप में भी चक्षस का प्रयोग होता है।

जिसके कारण ही हम अस्तित्व में हैं; जो हमें इस योनि में लाया है; जिसके द्वारा ही नाना योनियों में जन्म धारण करते हैं हम सब; उसमें ही समायें रहें, घुले मिले रहें सदा ! उसी से ही हमारा भविष्य भी तो सिला जुड़ा है। उसके बिना किसी योनि में जन्म सम्भव ही नहीं है। हम कैसे इस सत्य की उपेक्षा कर सकते हैं। अमर राह भी उसी से सम्भव है। उसकी तथा उसके द्वारा बनाये इस शरीर रूपी घर की उपेक्षा तो अक्षम्य अपराध है। क्या हमारे लिये उचित होगा कि हम इस शरीर में रहते हुए, इसकी ऊर्जा को भोगते हुए, प्रेतों की भांति भौतिकताओं, विषयों और अतृप्तियों में ही इससे परे आसक्त जगत में भटकते फिरें ? क्या यह स्वयं से विश्वासघात नहीं होगा ?

सखाय आ निषीदत सवितास्तोम्यो नु नः।
दाता राधांसि शुम्भति।।11/8

सखाय आत्मा घटघट वासी जीवमात्र के सखा के **आ** पास आकर **निषीदत** बैठ जाओ **सविता** सूर्य के सदृश्य आत्मज्योतियों में **स्तोम्यो** यज्ञ के हेतु ज्योतियों **नु** में **नः** हमसब लोग **दाता** कट जायें, घुलमिल जायें **राधांसि** गुंथ जायें, अन्तिम रूप से व्याप्त हों **शुम्भति** अमर जगमग ज्योतिर्मय देव योनि के हित में।

वेद भी श्रीकृष्ण के सखावाद से अछूते नहीं हैं। अथवा यूं भी कह सकते हैं कि श्रीकृष्ण के सखा रूप लीलावतार में वेद के ही रहस्यों का लीलात्मक प्रस्तुतिकरण है। चलो आत्मा रूपी गोविन्द (**गो** अर्थात ज्योतियों का, तथा **विन्द** अर्थात वर्धन धारण करने वाले) जो जीव मात्र के सखा हैं, उनके समीप बैठकर जीवन को अमर यज्ञ हेतु समर्पित करें, नित्य अमर देव योनि में यज्ञ के द्वारा जन्म पायें और आवागमन से मुक्त हो जायें।

उपरोक्त ऋचाओं को यदि **ज्योतिर्वेद के विभिन्न सोपान** ग्रन्थों को सम्मुख रखकर देखें तो सबकुछ स्पष्ट दिखने लगता है। जीवन तथा जल को आकाश से धरती पर उतारने के लम्बे समय के उपरान्त हुए भयंकर उल्कापातों के उपरान्त, पृथ्वी के हिमखण्डों के पिघलने से सभ्यता का विनाश हो गया था। मनुष्य सबकुछ खोकर एक चूहे की भांति फंसकर रह गया था। उसके पास आत्मा की राह के अतिरिक्त कोई भी मार्ग, अपने मूल निवास तक पहुंचने का बचा ही नहीं था। वह क्षीरसागर की अमानत था और धरा पर आकर फंस गया था। अत्माद्वैत के द्वारा लौटने की तड़प वेदों में सर्वत्रा दृष्टिगोचर है।

अग्ने पत्नीरिहावह देवानामुशतीरुप।
त्वष्टारं सोमपीतये।।11/9।।

अग्ने आत्मयज्ञ, अग्नि **पत्नीर** (पत् फैलना, मिलना तथा नीर जल की भांति व्याप्त होना) सर्वत्र व्याप्त तथा सबमें समाये हुए **इहा वह** यहां वहां, सर्वत्र **देवानाम्** अमर यज्ञों के हित में **उशतीः** जगमग चमकते हुए सबमें **उप** व्याप्त **त्वष्टारम्** सबमें इष्ट रूप स्थित (त्व+स्थः। एक ऋषि का नाम भी) होकर **सोम पीतये** अमृत का पान कराने वाले हे आत्मयज्ञ आप ही हैं।

हे यज्ञ ! आप ही सर्वत्र आत्मा के रूप में व्याप्त होकर सृष्टि को धारण करते हैं। आप ही जीवमात्र को जीवन क्षणों का अमृत सर्वत्र पिलाते हैं। आप ही जीव को ज्योतिर्मय शरीर रूपी जीवन्त घर प्रदान करने वाले हैं। आप ही जीवनदाता तथा मोक्ष दाता हैं। कस्तूरी कुण्डली बसे, मृग ढूंढ़े बन मांही। स्तुति आत्मयज्ञ की, आहुतियां वाह्य प्रतीक

यज्ञ को। एक विचित्र रहस्य सा है, सम्पूर्ण वेदों में समाया हुआ, जिससे भ्रमित रहा युगों तक विद्वत जगत सारा।

आ ग्ना अग्नइहावसे होत्रांयविष्ठ भारतीम्।
वरूत्रीं धिषणां वह।।11/10

आ आवाहन **ग्ना** सचराचर **आग्ना** जीवन्त सवराचर को धारण करने वाले **अग्न** ब्रह्मज्वाला, आत्माग्नि **इहावसे** (इह– जीवन। अवसः– सूर्य आत्मा) जीवन ज्योतियों को प्रज्जवलित करने वाले आत्मा, यज्ञ **होत्राम्** यज्ञों के द्वारा **यविष्ठ** बीज रूप स्थित होने वाले **भारतीम्** सचराचर का भरण पोषण करने वाले भरत अर्थात परमेश्वर के पुत्र अथवा दूत (इसी से देश का नाम भरतखण्ड तथा ईश्वर के पुत्र कहलाने से **भारत** जाति संज्ञक नाम अतीत में यहां के लोगों का था), **वरूत्रीम्** धारण सृजन एवं संहार की त्रिागुणात्मकता के रूप में आत्मा स्वरूप **धिषणाम्** स्थापित होकर सचराचर का **वह** वहन धारण करने वाले, हे आत्मयज्ञ आवाहन करते हैं हम सब आपका।

वाहय यज्ञ के सम्मुख गान करते एवं यज्ञाग्नियों में आहुतियां देते याजक वैदिक ऋचाओं में ऐसे ही एक सृष्टि यज्ञ का स्तुति गान कर रहे हैं जिसके द्वारा सचराचर उत्पन्न होता रहा है, हो रहा है तथा होता रहेगा। ऋचा का अर्थ शब्दार्थ से ही स्पष्ट हो जाता है। सारे सन्देह सहज ही मिट जाते हैं।

अभि नो देवीरवसा महःशर्मणा नृपत्नीः।
अछिन्नपत्राः सचन्ताम्। 11/11।।

अभि सम्मुख, व्याप्त **नो** हम हों **देवीः** आत्मा, आत्मज्योतियों के **अवसा** सूर्य के सदृश्य जगमग ज्योतिर्मय जन्म यज्ञ हेतु **महः** महान, उत्कृभट **शर्मणा** अनन्त सुखों को देने वाले **नृ** राजा, परमेश्वर की **पत्नी** जीवात्मा, लक्ष्मी, संज्ञा, द्रोपदी **अछिन्नपत्रा** अविछिन्न जीवन को पाने वाली, एक बटलोई जिसे सूर्यदेव ने द्रोपदी को वनवास के समय प्रदान किया था, अमर नित्य जीवन से युक्त अवस्था, देव योनि **सचन्ताम्** संयुक्त हों, प्राप्त करें। यज्ञ के द्वारा हम सब लोग महा सुख देने वाले, जगमग अमर देवत्व को अविछिन्न रूप से प्राप्त हों। मानव जीवन के महान लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त हों।

इहेन्द्राणीमुप ह्वये वरूणानीं स्वस्तये।
अग्नायीम् सोमपीतये।।11/12।।

इह जीवन, मानव योनि को **इन्द्राणीम्** ब्रह्मज्वालाओं में, आत्मयज्ञ की अग्नियों में **उप** व्याप्त करके, **ह्वय** अर्पित हवन होकर **वरूणानीम्** प्राणवायु, प्राणों को **स्वस्तये** (स्व +स्थ इति) आत्मा में स्थापित करते हुए **अग्नायीम्** आत्माग्नियों में आकर **सोम** आत्मामृत अमर ज्योतियों का **पीतये** पान करें। अमर देवत्व को प्राप्त हों। जीवन धन्य करें।

महीद्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम्।
पिपृतां नो भरीमभिः।।11/13।।

मही महान, अत्याधिक, धारण करन वाली **द्यौः पृथ्वी** { द्यावा पृथ्वी, सूर्य पृथ्वी, आत्मा रूपी अवनी) आत्मकुण्ड में प्रज्जवलित अग्नि स्थल में स्थित **न** नकारते हुए **इमम्** इस भान्ति **यज्ञम्** यज्ञ में भस्म करते **मिमिक्षताम्** अतृप्तियों, इच्छाओं एवं भौतिक तथाकथित उपलब्धियों को **च** तथा **पिपृताम्** पूर्ण तृप्त अवस्था को प्राप्त होकर **नो** हम सब लोग **भरीमभिः** नित्य अमर अवस्था अर्थात देवत्व में व्याप्त हों।

तयोरिद् घृतवत्पयो विप्रा रिहन्ति धीतिभिः।
गन्धर्वस्य ध्रुवे पदे।।11/14।।

तयोरिद् उनमें इस प्रकार जैसे **घृतवत्पयो** दूध में व्याप्त घी के सदृश्य, देवताओं के स्थान, आत्मलोक अथवा विष्णुलोक में **विप्रा** त्याग एवं वैराग्य को प्राप्त होकर, सम्पूर्ण भौतिक आसक्तियों का परित्याग करते हुए **रिहन्ति** पूजा, वन्दन, समर्पण एवं अनुगमन सहित **धीतिभिः** (धीति + अभिः) अमर ब्रह्मज्ञान का सम्मुख करते, युक्त होते हुए **गन्धर्वस्य** मृत्यु के उपरान्त तथा पुनर्जन्म से पूर्व, पूर्व जन्म की स्मृतियों के क्षीण होने होने पर, क्षीण विस्मृत अवस्था में भी **ध्रुवे पदे** नित्य, अटल अमर पद में स्थापित रहें।

जिस प्रकार घृत से ओत प्रोत हवन सामिग्री अग्नियों में यज्ञ होकर नूतन सृष्टि को धारण करने चल देती है तथा जिसप्रकार अन्नादिक भोजन रूप में ग्रहण किये जाने के उपरान्त आत्मयज्ञ में भस्म होकर रक्तादिक में पुनर्जन्म पाते हैं, उसी भांति हम अपने ही देह रूपी अंतरिक्ष

में आत्मज्वालाओं में सांकल्य सामिग्रीवत अर्पित यज्ञ होकर आत्म सुगन्धित देव योनियों को प्राप्त हों।

उपरोक्त ऋचाओं में जीवन का अमर सत्य जिसे हम सब नहीं ग्रहण कर पाते हैं, सहज ही प्रकट हो रहा है। मैं जन्म लेकर भी निरन्तर आत्मयज्ञ में जन्म रहा हूं, रक्त के कोशों में, धड़कनों एवंश्वांसो में, नूतन मांस एवं मज्जा आदि में !भआत्मयज्ञ के गर्भ से ही निरन्तर उद्धार पाता हूं। हमारा उद्धारक हमारा आत्मयज्ञ ही है। देव योनियों का मार्ग भी यहीं से होकर जाता है।

स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी।
यच्छा नः शर्म सप्रथः।।11/15।।

स्योना मंगलकर्त्ता, मंगलकारिणी **पृथिवि** यज्ञ की धरती, आत्मयज्ञ की अवनी, वह स्थान विशेष जहां प्रज्जवलित यज्ञ की अग्नियों सांकल्य एवं सामिग्री का भक्षण करती हों, धरती माता **भवान्** प्रकट हों, कल्याण करें **ऋक्षरा** ऋषियों, साधकों, तत्व ज्ञानियों के लिये **निवेशनी** तप, साधना, भक्ति, मोक्ष के हित में निवेशित करें। **यच्छा** मोक्ष की कामना (यक्ष का अर्थ पूजा, तप, साधना तथा यक्ष नाम देवताओं के पुजारियों का भी है, एक जाति जो यक्ष नाम से इतिहास प्रसिद्ध है।) **नः** हम सब लोग **शर्म** आत्मा के परमानन्द से युक्त **सप्रथः** दिव्य मार्ग की और, अमर ज्योतिर्मय राह पर अग्रसर हों।

जीवन के क्षणों का निवेश आत्मा की राह में हो अथवा भौतिक जगत की अतृप्तियों मात्र में ? उपरोक्त ऋचा में इसी भाव को आत्मस्थ जगत के हित में उभारा गया है। गुरूकुल की शिक्षा तथा आधुनिक शिक्षा के दिशा भेद यहां स्पष्ट हैं।

अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे।
पृथिव्याः सप्तधामभिः।।11/16।।

अतो अतः इसलिये **देवा** देवत्व के लिये, अमर राह के लिये **अवन्तु** आयें, धारण करें, नये जीवन का सूत्रापात करें **नो** हम सब लोग **यतो** जिस प्रकार **विष्णुर्विचक्रमे** (विष्णुः + वि + चक्रमे) सृष्टा के आवागमन, जन्म मृत्यु के विशिष्ट ज्ञान को प्राप्त होकर उसका अक्षरसः पालन, अनुसरण करते हुए **पृथिव्याः** पृथ्वी, ग्रहों तथा सभी प्रकार के **सप्तधामभिः**

जीवन की उत्पत्ति के यज्ञ के द्वारा प्रकट हो रहे सचरावर का यथा अनुसरण करें।

जिस भान्ति जीवन पाया है, जिसप्रकार सचराचर यज्ञ के द्वारा प्रकट हो रहा है, हम सब भी उसी दिव्य मार्ग का अनुसरण कर परमेश्वर का सम्मान करें। ईश्वर की इच्छा को सूक्ष्मता से जानते हुए, यज्ञ के विज्ञान में पारंगत होकर, यज्ञ के द्वारा अमर राह लें। सृष्टि के प्रकृति तथा पुरूष प्रदत्त उद्देश्य एवं कारण का सम्मान करें। जीवन का निवेश अमर राह के हित में हो। भौतिकताओं, अतृप्तियों में क्षणो का निवेश नहीं होता, क्षण केवल बरबाद ही हो जाते हैं। जीवात्मा किसी भी प्रकार की भौतिकता को साथ नहीं ले जा सकता। शरीर के साथ ही उसे सबकुछ छोड़कर जाना होता है। जीवन का निवेश आत्मा की राह में ही सम्भव है। अन्यथा जीवन धन की बरबादी तथा प्रकृति एवं पुरूष का अनादर, अवहेलना मात्र है।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
समूळ्मस्य पांसुरे।।11/17।।

इदम् इस प्रकार **विष्णुर्विचक्रमे** सृष्टा के सृष्टि यज्ञ के निरन्तर हो रहे चक्रों में **त्रेधा** तीनो (धारण + सृजन + संहार, ब्रह्मा + विष्णु + महेश, अ् + उ् + म, ऊँ।) धारण करने के आत्म यज्ञों में **नि** निहित व्याप्त यज्ञमय होकर **दधे** धारण कर **पदम्** अमर पद। **समूढम्** मूढ़ भाव से संयुक्त होकर, विरक्ति को प्राप्त होता **अस्य** इस प्रकार **पांसुरे** अमृत का पान करे (पान् अर्थात पीना तथा सुरे अर्थात सुरत्व अमृत देवत्व से है।)

आवागमन, उत्पत्ति, सृष्टि का मार्ग अथवा सिद्धान्त सर्वत्र एक ही है। जिसप्रकार भस्मी एवं जड़ प्रकृति यज्ञ के द्वारा जीवन्त वनस्पतियों के रूप में नूतन जन्म ग्रहण करती है, उसीप्रकार ऐसे ही यज्ञ के द्वारा वनस्पतियां नाना शरीरों के रूप में नया जन्म ग्रहण करती हैं। यह प्रकृति का अकाट्य सनातन नियम है। ऐसे ही यज्ञ के द्वारा ग्रह, नक्षत्र एवं आकाशगंगाओं का भी जन्म होता है। उपरोक्त ऋचा में इसे ही उदाहरण के रूप में ग्रहण करते हुये मनुष्य के अगले जन्म अर्थात अमर देव योनि में जन्म को यज्ञ के द्वारा पाने के मार्ग के रहस्यों का

अनावरण किया गया है। आत्मा द्वारा त्रेधा अर्थात धारण, सृजन एवं संहार के आत्मयज्ञ में अर्पित यज्ञ होकर नूतन जन्म को पाने की चर्चा की है।

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन्।।11/18।।

त्रीणि तीनो **पदा** पद, प्रतिष्ठा **वि** विशिष्ठ, व्यापक, सर्वत्र **चक्रमे** आवगमन के चक्र में **विष्णुः** आत्मा, यज्ञ की **गोपा** ज्योतियों का पान करते हुए (गो अर्थात ज्योति तथा पा, पान करने के अर्थ में) **अदाभ्यः** पलते हुए, यज्ञ में आहूत होते हुए (अद् धातु से भोजन), नूतन स्वरूप में नवजात स्वरूप ग्रहण करते हुए, जिसप्रकार विष्णु सचराचर का पालन करता है, जीवमात्र को भोजन आदि से तृप्त करता है, माता के स्तनों में दुग्ध को जन्मता है, उसी भांति **अतो** ऐसे ही आत्मयज्ञ का अनुगमन यथा भाव से करते हुए **धर्माणि** यज्ञ धर्म को धर्म पूर्वक, सम्पूर्ण निष्ठा सहित, एकाग्र समर्पित भाव से **धारयन** धारण करें।

प्रकृति एवं पुरूष द्वारा निरन्तर प्रकट हो रही सृष्टि का सूक्ष्म अध्ययन करते हुए, जीवन के उद्देश्यों एवं अभीष्ट लक्ष्य को खोजने की अदभुत विधा हमें इन ऋचाओं में स्पष्ट हो रही है। इस सूक्ष्म अध्ययन का उद्देश्य, मात्र ज्ञान को प्राप्त होना भर ही कदापि नहीं है। वरन इसी मार्ग पर अग्रसर होकर अनन्त अमर अवस्था को पाना भी है। वैदिक कालीन विज्ञान सृष्टि के सूक्ष्म रहस्यों को उसी स्थान पर जाकर जानना चाहता है जहां व्यवहारिक रूप से निरन्तर सृष्टि हो रही है। सृष्टि के क्रम को निर्बाध रखते, किसी भी प्रकार का व्यवधान न डालते हुए, सूक्ष्म दर्शन की अदभुत परिपाटी ही यज्ञ की राह है।

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा।।11/19।।

विष्णोः परमेश्वर द्वारा प्रकट हो रही सृष्टि के **कर्माणि** कर्म (सृष्टि के क्रम, नियमन, विधान) को **पश्यत** देखते हुए (सूक्ष्म अध्ययन करते हुए, रहस्यों को यथा सृष्टि क्रम में जीवन्त पढ़ते हुए) **यतो** उसको यथा स्थिति, तद्रूप ग्रहण करते हुए, अक्षरसः पालन एवं अनुगमन करते हुए **व्रतानि** उसमें यथा स्थिति संकल्पित होते हुए **पस्पशे** परस्पर स्पर्श

करते हुए, यज्ञ को जीवन का अभीष्ट लक्ष्य मानकर स्पर्श एवं नित्य अनुसरण करते हुए **इन्द्रस्य** मन एवं सभी इन्द्रियों को **युज्यः** आत्मा रूपी यज्ञ से योग स्थित अर्थात एकाकी भाव से जोड़ते हुए **सखा** आत्मा यज्ञ के अनन्य सखा अर्थात मित्र बने।

सखा शब्द का प्रयोग लीला कथाओं में श्रीकृष्ण के लिये विशेषकर हुआ है। आत्मा ही जीव मात्र के सखा हैं। जीवमात्र को शबरी जैसा प्यार एवं सम्मान प्रदान करते प्रत्येक शरीर में जूठे भोजन को ग्रहण करते हैं। जिसप्रकर उन्होंने श्रीरामचन्द्र की लीला कथा में शबरी के जूठे बेर खाये थे। यज्ञ से सखा भाव में संयुक्त अर्थात योगस्थ हों। इसे जीवन का संकल्प बनाये तथा इसे अटल व्रत के रूप में धारण करें।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्।।11/20।।

तद् इस प्रकार, तदन्तर **विष्णोः** परमेश्वर की सृष्टि के **परमम्** अति महत्वपूर्ण, अति परम, अति मूल्यवान **पदम्** पद, उपाधि, स्थान अथवा पदवी का **सदा** नित्य निरन्तर **पश्यन्ति** दर्शन, देखना, स्थापित होना **सूरयः** सूर्य के सदृश्य आत्मा रूपी यज्ञ अथवा सूर्य का स्पष्ट सन्देहरहित दर्शन करे **दिवि** नित्य प्रकाशित, देवत्व में **इव** इस भांति **चक्षुः** दिव्य चक्षु (अतीन्द्रिय ज्ञान, तीसरा नेत्र, गुरू द्वारा प्रदान ज्ञान से खुलने वाला अन्तर का नेत्र) को **आतमम्** आकर ग्रहण करे।

वाहय दृष्टि को धारण करने वाली इन्द्रियों की संज्ञा **नेत्र** है। जिन्हें हम आंखें कहते हैं। जबकि **चक्षु** उस आंख को कहते हैं जो देह के भीतर आत्मा का दर्शन करती है। इसी से **चक्षस** अर्थात दीक्षा गुरू की उपाधि प्रकट होती है। यह सम्मान सभी वेदों में देवगुरू बृहस्पति को ही प्रदान किया गया है। नेत्र एवं चक्षु एक दूसरे के पर्यायवाची अथवा पूरक कदापि नहीं हैं। चक्षु, दिव्य आत्म दृष्टि है तथा नेत्र देखने की भौतिक वाह्य व्यवस्था के अंग।

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत् परमं पदम्।।11/21।।

तद् तदन्तर **वि** विशिष्ट, व्यापक **प्रासो** ज्योतिर्मय नूतन सृष्टि को **विपन्यवो** विपन्न अकिंचन विरक्त त्यक्त भाव से, अतीत को भस्म करता

हुआ **जागृवांसः** जलते दहकते हुए आत्मकुण्ड रूपी घर में अर्थात आत्मा में **समिन्धते** समिधाओं के समान अर्पित होता अग्नि हो जा, स्वयं को यज्ञ के दहकते कुण्ड में भस्म कर दे, समाधिस्थ होकर **विष्णोः** यज्ञ होता परमेश्वर के सदृश्य नूतन जन्म लेता **परमम्** महान, अति विशिष्ट **पदम्** पद को प्राप्त हो। जीवात्मा ही परमात्मा का पुत्र है। पुत्र ही आगे चलकर पिता का स्थान ग्रहण करता है। यज्ञ के द्वारा हम सब अद्वैत करते महान पद को प्राप्त हों। यही सचराचर में प्रकृति का नियम है। जीमात्र अर्थात हम सब, एक पिता परमात्मा की सन्तान हैं। पुत्र अपने पिता की राह का अनुसरण करें।

इस प्रकार ग्यारहवें सूक्त का समापन हुआ। गुरूकुल शिक्षा का अति विलक्षण स्वरूप हमारे सामने हैं। साथ ही यज्ञ के अन्तर्निहित सत्य भी हमें निसन्देह रूप से स्पष्ट हो चुके हैं। आदिकालीन ज्योतिर्वेद की मान्यता भी इसमें निर्विवाद रूप से स्पष्ट है। जीवन और जल क्षीरसागर की सम्पदा हैं। इन्हें पृथ्वी के माया (गुरूत्वाकर्षण) क्षेत्र में, क्षीरसागर से लाकर बसाया गया था। जीवात्मा मैथुनी सृष्टि कदापि नहीं है। जीवात्मा की उत्पत्ति ब्रह्म से है तथा ब्रह्म का स्थान महाविष्णु के नाभिकमल क्षेत्र में है। नीलाभ आभायुक्त, आकाश अर्थात क्षीरसागर ही महाविष्णु का प्रतीक है। नीलाकाश के नाभिकमल के मध्यक्षेत्र से ही जीवात्माओं का उद्गम है। इसप्रकार जीवात्माओं की उत्पत्ति आकाश के मध्य केन्द्र से होना सिद्ध है। केवल शरीर, जोकि मायाक्षेत्र में जीवात्मा के रहने तथा माया के प्रभाव से बचने के साधन हैं, उनकी उत्पत्ति में मैथुनी प्रक्रिया का निमित्त योगदान भर है। इसका विस्तार ***"ज्योतिर्वेद के विभिन्न सोपान" नामक तीन ग्रन्थों में कर चुके हैं।***

जीवन को अध्ययन हेतु जब धरती पर उतारा गया था तो वेदादिक ग्रन्थों सहित गुरूकुल शिक्षा को भी साथ ही उतारा गया था। जीवात्मा का ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा नूतन देह में प्रवेश कर, शरीर के प्रत्येक कोश से आत्मिक सम्बन्ध, योगस्थ भाव से, बनाने के लिये उसका पूर्व ज्ञान लुप्त होना अनिवार्यता है। ऐसी अवस्था में उसे पूर्व ज्ञान, उसका स्वरूप, परिचय तथा गन्तव्य बताने के लिये गुरूकुल शिक्षा के विधान किये गये

थे। अन्यथा जीवात्मा के भटकने के भय सदा बना रहता। इसी भावना को हमने ऋग्वेद के प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा तथा उपरान्त दूसरे ऋषि मेधातिथि काण्वः में निरन्तर पढ़ रहे हैं। वेद में छात्र अपने मूलस्वरूप को स्पष्ट करते हुए, जीवन, उत्पत्ति, संचालन, उद्धार के साथ ही निहित उद्देश्यों का व्यापक ज्ञान आत्मस्थ कर रहे हैं।

भौतिक तथाकथित वाहय जीवन नाटयशाला का मंचन भर है। उसे यथा पात्रता, निमित्त धर्मपूर्वक निभाते हुए, सत्यस्वरूप में स्वयं को जानकर, आत्मस्थ जगत में अनन्त के राही होना है। लौटकर घर जाना है। घर नीलाकाश का नाभिकमल क्षेत्र है। इसी विचार को प्रत्येक ऋचा में नाना प्रकार से बारम्बार दोहराया जा रहा है। जिसप्रकार सख्त जमीन में कील को गाड़ने के लिये हत्थोड़ी के कई हल्के प्रहार करने होते हैं। भारी प्रहार से कील के मुड़ने का भय रहता है। उसी प्रक्रिया को हम इन ऋचाओं में पाते हैं। यज्ञ को आत्मा के रूप में प्रस्तुत कर तथा वाहय यज्ञ को निमित्त यज्ञ के रूप में स्पष्ट करते हुए ऋषि जीवन के सार्थक उद्देश्यों एवं लक्ष्यों का जीवन में निध ारिण कर रहे है। छात्र, गुरूकुल के उपरान्त भी इन्हें प्रतिदिन नियमपूर्वक दोहराते रहेंगे। इनसे कभी अलग नहीं होंगे। हवन, यज्ञ, त्रिकाल गायत्री, पूजा पाठ आदि के द्वारा गुरूकुल उनके जीवन में सदा जीवन्त रहते हुए उनका पथप्रदर्शक बना रहेगा। आकाश की डोर से वे सदा बन्धे रहेंगे। उन्हें समय बहाकर भटका नहीं सकेगा। वे डोरी का सदा आदर करेंगे।

।।द्वादश सूक्तम्।।

तीव्राः सोमास आ गह्याशीर्वन्तः सुता इमे।
वायोतान् प्रस्थितान् पिब।।12/1।।

तीव्रा द्रुतगामी, तीव्रगति से गमन करने वाले **सोमास** जीवन ज्योतियों से वरद करने वाले, जगत प्राणवायु **आ गहि** आवाहन करते हैं यज्ञ में आपका, पधारें एवं यज्ञ को ग्रहण करें **आशीर्वन्तः** वरद करने वाले, कल्याणकारी **सुता** यज्ञ में व्याप्त करके नूतन उत्पत्ति प्रदान करने वाले **इमे** इस प्रकार **वायो** हे प्राणवायु **तान्** उन सबको

प्रस्थितान् अमर स्थित होकर, अटल स्थित होकर, व्याप्त होकर **पिब** पिलायें जीवन के अमृत क्षण, करायें अमृत का पान!

हम समापन सूक्त में यज्ञ की स्तुतियों में हैं। जिसप्रकार ऋग्वेद के प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा में प्राणवायु को ही यज्ञ के उपाचार्य के रूप में ग्रहण किया गया है, उसी का चलन हमें वेद के लगभग सभी ऋषियों में मिलता है। यहां भी प्राणों के रूप में प्राणवायु का ही आवाहन किया गया है। वाह्यय यज्ञ को निमित्त प्रतीक रूप में ग्रहण करते हुए, ब्रह्मचारी छात्र गण स्तुति आत्मयज्ञ में प्राणवायु की ही कर रहे हैं। ऐसी ही मन्दिर तथा मूर्ति की कल्पना हमें पूर्व ऋषि में स्पष्ट रूप से मिली है। गुलामी के अन्तरालों में, गुरूकुल शिक्षा के अभाव में, तथा विश्वविद्यालयों आदि के साहित्य सहित भस्म हो जाने के कारण, प्रतीकों को ही, साम्प्रदायिक सोच मूल स्थान दे बैठी। साम्प्रदायिक सोच को कालान्तर में (आज तक) राजाश्रय प्राप्त हुआ, जिसके कारण धर्म का मौलिक स्वरूप तथा विचार लुप्त होते चले गये।

उभा देवा दिविस्पृशेन्द्रवायू हवामहे।
अस्य सोमस्य पीतये।।12/2।।

उभा उभय रूप से, दोनो **देवा** देवता **दिवि** दिव्य अमर **स्पृशेन्द्रवाय** (स्पृश+इन्द्र+वायु) पद प्रादन करें इन्द्र अर्थात आत्मा, यज्ञ के आचार्य, अधिष्ठित देव तथा प्राणवायु रूपी उपाचार्य हम सबको **हवाम्** यज्ञ में **अहे** अहो **अस्य** इस प्रकार, ऐसे हम सब **सोमस्य** यज्ञामृत के **पीतये** पीने के अधिकारी हों।

इन्द्रवायू मनोजुवा विप्रा हवन्त ऊतये।
सहस्राक्षा धियस्पती।।12/3।।

इन्द्र महान आत्मा **वायु** प्राणवायु अर्थात आत्मा एवं प्राण **मनोजुवा** प्रेमपूर्वक, एकत्व मन से एवं मनुहार सहित **विप्रा** वेद के ज्ञानी याजकों को, विरक्त तपस्वियों को **हवन्त** यज्ञ करके, यज्ञ में व्याप्त करके, मिटाकर **ऊतये** दिव्य ज्योतियों में उनका उद्धार करें, अमर पद प्रदान करें।

अपने ही अन्तःस्थल में जीवन के सूक्ष्म सूत्रों को खोजता मेरा ही अनन्त अतीत, झांकता वेद की अमर ऋचाओं में, और एक मैं हूं जो उसे समझने के प्रयास में जुटा हूं, मात्र वाह्य निमित्त यज्ञों में ! समय के अन्तरालों ने, कहां से कहां पर ला पटका है मुझे ! अपने से दूर स्वयं को खोजने लगा हूं, जहां कभी गया ही नहीं था, वहां से अपना पता लगाने में जुटा हुआ हूं।

मित्रं वयं हवामहे वरूणं सोमपीतये।
जज्ञाना पूतदक्षसा।।12/4।।

मित्रम् महाप्रलय के आदित्य, अग्नि (महाप्रलय के द्वादश आदित्यों में एक) **वयम्** हम सब के उद्धारक **वरूणम्** महाप्रलय के आदित्य, वरूण देवता, जल के स्वामी **हवाम्** यज्ञों के द्वारा **अहे** अहो **सोम** ज्योतिर्मय अमृत का हम सब लोगों को **पीतये** पान करायें **जज्ञाना** यज्ञों के द्वारा, यज्ञों में **पूत** पवित्र करके **दक्षसा** अग्नियों में अग्नि सदृश्य ढालते हुए। हमें अमर करें।

ऋतेन यावृतावृधावृतस्य ज्योतिषस्पती।
ता मित्रा वरूणा हुवे।।12/5।।

ऋतेन ऋत अर्थात अमर आत्मा के अमर ज्ञान के लिये, मोक्ष के लिये **यो** जो याजक गण **ऋतावृधा** आत्मज्ञान की वृद्धि करते हैं, वेदादिक को ही जीवन का मूल मानते हुए यथा मनसा वाचा कर्मणा धारण करते हैं **ऋतस्य** आत्मा सदृश्य अमर पद के लिये **ज्योतिषः** आत्म ज्योतियों से ही निरन्तर प्रदीप्त रहते **पती** जीवन में पदासीन अर्थात सम्मानित करते हैं **ता** उनको ही **मित्रा** प्रलय की अग्नि मित्र एवं **वरूणा** वरूण आदि द्वादश अग्नियों की महाप्रलय रूपी **हवे** यज्ञ से पुनीत अमर पद तथा जीवन की प्राप्ती होती है।

वरूणः प्रावित भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभिः।
करतां नः सुराधसः।।12/6।।

वरूणः मित्राः महाप्रलय की अग्नियों की पवित्रता **प्रावित** सदा नित्य प्राप्त **भुवन्** हो विश्व चराचर (वि=- विगत, रहित। श्व=- मृत, शव। मृत्यु से रहित अमर) में **अभिः** सम्मुख, व्याप्त रहें सदा **ऊतिभिः** अमर दिव्य ज्योतियां, दिव्य अमर ज्योतियों के प्रलयंकर अग्नि यज्ञ

सदा पवित्र करते रहें सचराचर को, यज्ञ की अमर दीप्तियों से जीवन जगमगाते रहें सदा। ऐसे ही यज्ञों में स्वयं को अर्पित करने वाले **करताम** याजक **नः** हम सब लोग **सुराधसः** अमर ज्योतियों में यज्ञ होकर उनमें गुंथते हुए पायें अमरपद, देव योनि।

मरुत्वन्तं हवामह इन्द्रमा सोमपीतये।
सजूर्गणेन तृम्पतु।।12/7।।

मरुत्वन्तम् वायुदेव के सदृश्य बलवान चंचल प्राणवायु को **हवाम्** यज्ञ में अर्पित करते हुये **अह** अहो तथा **इन्द्रमा** ऐश्वर्यमयी मन को यज्ञ में आहूतिवत अर्पित करते हुए **सोमपीतये** यज्ञ की अमर ज्योति रूपी सोम का पान करें। **सजूर्गणेन** संयुक्त रूप से मन एवं प्राण को यज्ञ में एकाग्र स्थित करते हुए **तृम्पतु** अनन्त तृप्तावस्था अर्थात अमर दिव्य अवस्था पायें।

इन्द्रज्येष्ठा मरुद्गणा देवासः पूषरातयः।
विश्वे मम श्रुता हवम्।।12/8।।

इन्द्रज्येष्ठा महान एवं श्रेष्ठ इन्द्र, मन के रूप में सम्पूर्ण देहधारियों में वास करने वाले एवं **मरुद्गणा** बलवान मरूतगण (पुराणों में इनकी संख्या 49 कही गयी है। बलवान प्राणवायु) **देवासः** देवताओं के रूप में प्रत्येक शरीर में वास करने वाले **पूषरातयः** निरन्तर सबमें रहकर उनका पोषण करने वाले, हे **विश्व** संसार को मृत्यु से रहित करने वाले **मम** मेरे (हमारे) मन एवं प्राण **श्रुता** श्रुतियों द्वारा प्रशस्त, वेदोक्त यज्ञ **हवम** में हमें हव्य अर्थात सांकल्य की भान्ति अर्पित कर हमें अमरपद प्रदान करायें।

हत वृत्रं सुदानव इन्द्रेण सहसा युजा।
मा नो दुःशंस ईशत।।12/9।।

हत संहार करने वाले, हत्या करने वाले **वृत्रम** वृत्राासुर नामक असुर अथवा आसक्ति एवं भ्रम के घुमड़ते काले घने बादलों से भटकते मन, आवागमन के भटकाव **सुदानव** अति बलवान असुर अथवा सुरत्व से हीन अति बलशाली असुर विषयासक्तियां एवं मनोवृतियां **सहसा** तत्क्षण, शौर्यसहित **युजा** हममें युक्त होकर। जिसप्रकार आपने वृत्रासुर नामक महासुर का वध करके सचराचर को उसके भय से मुक्त किया, उसी

प्रकार घट, देह में वास करने वाले इन्द्र रूपी हमारे बलवान राजा मन! हममें युक्त सभी असुर मनोवृतियों का तत्क्षण विनाश करें तथा **मा** नकार दें, नष्ट करें **नो** हमारे **दुःशंस** दुष्ट स्वभाव, दम्भ एवं मिथ्याभिमान। हम अपनी पाप मनोवृतियों तथा उपलब्धियों पर कदापि दम्भ न करें। बुराईयों की प्रशंसा हम कभी न करें।

विश्वान् देवान् हवामहे मरुतः सोमपीतये।
उग्रा हि पृश्निमातरः।।12/10।।

विश्वान् अमर (वि=ः रहित।श्व=ः मृत्यु) सचराचर के **देवान्** देवता **हवामह** यज्ञाहूतियों के द्वारा अहो **मरुतः** प्राणों को **सोमपीतये** अमर यज्ञ की दीप्तियों का पान करायें, अमर सोमपान के द्वारा हमें अमर पद प्रदान करें **उग्राहि** प्रचण्ड प्रलयाग्नियों रूपी **पृश्निमातरः** देवमाता यज्ञाग्नियों में। **पृश्नि** किरण, ब्रह्मज्वाला, अग्नि तथा श्रीकृष्ण के नामान्तर हैं। **पृश्निमातरः** अग्नियों की आदिमाता यज्ञ की अग्नि तथा श्रीकृष्ण की माता देवकी के नाम हैं।

जयतामिव तन्यतुर्मरुतामेति धृष्णुया।
यच्छुभं याथना नरः।।12/11।।

जयताम् (मन इन्द्रियों एवं भटकावों पर) विजय सहित **इव** इस भांति **तन्यतुः** तन्मय एकाग्र भाव में **मरुताम** प्राणों को **एति** समाधिस्थ **धृष्णु** अटल स्थिर करते **या** जो **यच्छुभम्** (यत्शुभम्) ऐसे शुभत्व को **याथना** यज्ञ में व्याप्त होकर पाते **नरः** अमर यज्ञाग्नियों से, यज्ञ माता देवकी से अमर जन्म।

हस्काराद्विद्युतस्पर्यऽतो जाता अवन्तु नः।
मरुतो मृळयन्तु नः।।12/12।।

हस्कारात् (हस, हस्= चमकना) चमक अथवा ज्योतियों को भरने, परिपूर्ण करने वाले **विद्युत** तड़ित कौधंती बिजली **स्पर्यऽतो** स्पर्श अथवा प्रदान कराने वाले, अमर जीवन ज्योतियों का स्पर्श प्रदान करने वाले **जाता** उत्पन्न करने वाली, जन्मने वाली **अवन्तु** (अवन्=निर्मल, ज्योतिर्मय, सुख एवं मंगल तथा नु=में) निर्मल एवं मंगलमय जीवन **नः** हम सबको प्रकट करने वाली यज्ञाग्नि अथवा यज्ञ में **मरुतो** प्राणों को **मृलयन्तु** (मृ=अमर। लयः=व्याप्त। नु=में) अमर यज्ञाग्नियों में नित्य

व्याप्त हों नः हम सब याजक गण। यज्ञ में अन्तिम रूप से प्रलय हो हमारी। जिससे नूतन सृष्टि अमर देव योनि में ग्रहण करने के अधिकारी हों हम सब याजक गण। देवयान से शुक्ल मार्ग से गमन हो हमारा।

आ पूषञ्चित्र बर्हिषमाघृणे धरुणं दिवः।
आजा नष्टं यथा पशुम्।।12/13।।

आ आवाहन करते **पूषन** पोषण करने वाले **चित्र** देह शरीर, दृश्य मात्र **बर्हिषम** ब्रह्माग्नियों के गर्भगृह, यज्ञ की अग्नियों के गर्भ में **आघृणे** आकर ग्रहण करें **धरुणम** धारण करायें अथवा धारण कराने में समर्थ **दिवः** दिव्य अमर देवत्व। **आजा** आवागमन, आना जाना, योनियों के भटकाव, पितृयान अथवा सकाम धूम्रमार्ग **नष्टम** नष्ट भस्म करें **यथा** इसप्रकार, सभीप्रकार से, अपनी **पशुम्** पशुपताग्नियों में, यज्ञ की प्रलयाग्नियों में ही हमारा उद्धार करें।

पूषा राजानमाघृणिरपगूळ्हं गुहा हितम्।
अविन्दच्चित्रबर्हिषम्।।12/14।।

पूषा पोषण करने वाले, आत्मा, यज्ञ, ईश्वर **राजानम्** परम ज्योतिर्मय (राज=ज्योति) राजेश्वर **आघृणिः** आयें एवं ग्रहण करें **अपगूळ्हं** रहस्यों का अनावरण करें, सरल तरल करके घुलने मिलने के योग्य बनावें **गुहा** यज्ञगर्भ रूपी गुहा की **हितम** सरलता के लिये, हित के लिये। **अविन्दः** मूढ़, अज्ञानी, ज्योति से हीन **चित्र** दृश्यमात्र, शरीरधारियों को **बर्हिषम** यज्ञाग्नियों के ज्योतिर्मय गर्भ में उद्धार करें।

उतो स मह्यमिन्दुभिः षड्युक्तां अनुसेषिधत्।
गोभिर्यवं न चर्कृषत्।।12/15।।

उतो उद्धार, उत्थान करें **स** जीवात्मा, जीव अथवा देहधारी **मह्यम** महान, श्रेष्ट, उत्तम **इन्दुभिः** (इन्दु = चन्द्र, मन। अभिः= सम्मुख होना, व्याप्त होना, घुलमिल जाना।) मन को आत्मा में व्याप्त करते हुए **षड्युक्ताम** छह मुख वाले कार्तिकेय, छह ऋतुओं के द्वारा पलने वाले वृक्ष एवं वनस्पतियां, परमेश्वर महाशिव की प्रथम संतति, **अनुसेषिधत** के द्वारा सींची हुई, उद्धृत, जीवन, मानव एवं सभी जीवधारी, हम सब लोग जो वनस्पतियों के द्वारा शरीर पाते हैं। **गोभिर्यवम्** (गोभि = ज्योतियों में। यवम् = बीज सहित) ज्योतियों में बीजसहित व्याप्त हो

जायें, जीवन के बीज भी ज्योति ही हो जायें जिससे फिर कभी भी न नहीं हो **चः** पुनः बारम्बार **कृषतः** उत्पत्ति, पैदावार के रूप हों जन्म हमारे। हम नित्य ज्योति हो जायें।

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्।
पृञ्चतीर्मधुना पयः।।12/16।।

अम्बयाः ब्रह्माग्नि, अम्बा, यज्ञ की आदिज्वाला, आदि शक्ति **यन्त** जिस प्रकार **अध्वभिः** मृत्यु से रहित कर जीवन में **जामयो** जन्मती हैं **अध्वरीयताम** निरन्तर जीवन प्रदान करती हैं (ध्व अथवा ध्वर का अर्थ मारना है। अ के समायोजन से अध्वर का अर्थ मृत्यु से रहित होना) तथा **पृञ्चतीः** सींचना, निरन्तर पालना **पयः** जीवन के दुग्ध रूपी अमृत से। वे यज्ञमाता, जगत जननि, यज्ञ की महा ज्वाला, अम्बा, हमारा उद्धार देव योनि में करें। जिन्होंने बारम्बार हमें अपने यज्ञ के ज्योतिर्मय गर्भ से जन्म दिया, जिन्होंने यज्ञ के द्वारा माता के स्तनो में दुग्ध में अमृत गंगा हमारे लिये प्रवाहित की, जो निरन्तर यज्ञ की अग्नियों में हमारे लिये मृत पदार्थों को वनस्पतियों में यज्ञों के द्वारा, भोजन के रूप में निरन्तर जन्मती रहीं, वे जगत जननि, महाज्वाला अम्बा, हमारा उद्धार देव योनि में यज्ञ के द्वारा करें। वे ही मात्र ऐसा करने में समर्थ हैं।

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यःसह।
ता नो हिन्वन्त्वध्वरम्।।12/17।।

अमूर्या (अमु+अर्यः। अमु=बन्धन मुक्त होना। अर्यः=श्रेष्ठ, सम्पूर्णता से, भव्यता पूर्वक) काट कर भव बन्धन सारे अन्तिम रूप से **उप** अद्वैत, योग करें, व्याप्त हों **सूर्ये** आत्मयज्ञ रूपी सूर्य की ज्योतियों में **याभिर्वा** (य+अभि+वा) जिसके सम्मुख होकर व्याप्त होने से तथा **सह** सग, साथ अद्वैत, योग करके, अपने को उसके रूप में अन्तिम रूप से मिटाकर **सूर्यः** सदृश्य सूर्य के, सूर्य ऐसा रूप लेकर प्रकट हों, आत्मयज्ञ से आत्मा का ही स्वरूप लेकर जन्म लें। **ता** ऐसे जन्मे **नो** हम सब याजकों को **हिन्वन्त** हिण्डोले, उड़नखटोले, देवयान से **अध्वरम** अमर यात्रा का श्रीगणेश हो।

अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः।
सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः।।12/18।।

अपो (अपाः) जल, उत्थान **देवीरुप** (देवीः+उप) आत्मयज्ञ की ज्वाला, पृश्निमातरः, अम्बा में व्याप्त **ह्वय** सामिग्रीवत यज्ञ होकर **यत्र** जिसप्रकार, जहां पर **गावः** जीवन ज्योतियों में जीवात्मा के स्वरूप में उत्पन्न हुए थे (जिस अपाः= जल को) **पिबन्ति** पीकर, जिस जल के द्वारा **नः** हम सब पूर्व में **सिन्धुभ्यः** क्षीरसागर में, गगन के माया रहित क्षेत्र में **कर्त्वम** कृत्य, यज्ञ कर्म के द्वारा, हमें पुनः उद्धार मिलेगा ऐसे ही आत्मयज्ञ में यथा **हविः** सामिग्रीवत अर्पित होकर, हवन यज्ञ होकर। जिसप्रकार अन्तरिक्ष में यज्ञ के द्वारा प्रकट हुए थे हम सब जीवात्माओं के रूप में, उसी प्रकार देह के अन्तरिक्ष में, क्षीरसागर में, आत्मयज्ञ में हवन होकर पायेंगे उद्धार।

अपस्वऽन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये।
देवा भवत वाजिनः।। 12/19।।

अपस्व (अप =जल। स्व =आत्मा) आत्मजल, सोम **अन्तरम्** देह के भीतर **ऋतम** अमर, आत्मिक **अप्सु** ऐसे दिव्य जल से **भेषजम** स्वयं को सींचते हुए, आचमन लेते हुए, औषधि अथवा उद्धार के रूप में **अपाम** जल में निरन्तर नूतन **उत** दिव्य अमर राह को **प्रशस्तय** स्पष्ट प्रकाशित करें। **देवा** देव योनि, देवता के रूप में **भवत** प्रकट हों, जन्म पायें **वाजिनः** यज्ञ में सांकल्य से अर्पित होकर।

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशम्भुवमापश्चविश्वभेषजीः।।12/20।।

अप्स दिव्य आत्मजल **म** में व्याप्त **सोमो** अमर सोम में **अब्रवीत्** संचारित मिले हुए, भजते, गाते हुए **अन्तः** अन्तःकरण में अर्पित **विश्वानि** मृत्यु की सीमाओं को लांघते हुए, अमर होकर **भेषजा** अमृत से सिंचते हुए **विश्वम्** नित्य अमर **भुवम्** होकर, सचराचर की उत्पत्ति के कारण **आपः** जल, सोम से **च** तथा **विश्वम्** अमर होने के लिये **भेषजी** निरन्तर सिंचते रहें।

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वेइमम।
ज्योक च सूर्यं दृशे।।12/21।।

आपः जल, सोम **पृणीत** व्यापक, निरन्तर पान करते हुए **भेषजम** अन्तःकरण को सींचते हुए तथा निदान के रूप में **वरूथम** कवच वत धारण करते हुए, रक्षा कवच के रूप में पहने हुए अपने **तन्व** सूक्ष्म कोमल भावों को रक्षित करते हुए **इमम** इस भान्ति **ज्योक** लम्बे समय तक, सदा ज्योतिर्मय रहते हुए **सूर्यम** आत्मयज्ञ रूपी सूर्य में **दृशे** समाधिस्थ रहें, उन्हे ही देखें, उन्हीं से योगस्थ रहें। आत्मयज्ञ के सम्मुख रहें सदा।

इदमापः प्र वहत यत् किं च दुरितं मयि।
यद् वाहमभिदुद्रोह यद् वा शेप उतानृतम्।।12/22।।

इदम् इस भांति **आपः** सोम रूपी यज्ञ का अमर जल **प्र** नित्य निरन्तर **वहत** प्रवाहित रहे, बहता रहे, सींचता रहे **यत** यद्यपि **किम** किंचित भी **च** तथा **दुरितम** दुराग्रह, कुविचार, कुकर्म आदि **मयि** मेरे अथवा हमारे हों **यत** यद्यपि जो भी **वा** अथवा **अहम्** हमारे दम्भ आदि **अभिद** सम्मुख दुष्ट आचरण, अतृप्ति, आसक्ति, वासना आदि **द्रोह** षडयन्त्रादि जो हम अपने जीवन के साथ अथवा दूसरों के साथ करते रहें हों अथवा कर रहे हों **वा** अथवा **यदा** जो जो भी **शेप** इन्द्रियों के व्यभिचार, कामुकता आदि के पाप आदि को **उतान** निश्चयपूर्वक आत्मयज्ञ की ज्योतियों में नष्ट करते हुए **ऋतम** अमर राह को आत्मयज्ञ में प्राप्त हों। हमारे सम्पूर्ण पाप आत्मयज्ञ में सदा सदा के लिये भस्म हों तथा अमर राह प्रशस्त हो।

आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि।
पयस्वानग्न आ गहि तं मा सं सृजवर्चसा।।12/23।।

आपो (आपाः) ज्योतिर्मय अमृत जल सोम के द्वारा **अद्यान** भोजन उत्पत्ति **वच** सूर्य, आत्मयज्ञ के रूप में **अरिषम** हर ओर निरन्तर रसेन रसों अर्थात भोज्य पदार्थों एवं सुखों की वर्षा **समगः** समग्र व्यापक करने **महि** पृथ्वी, धरती, शरीर **पयः** दुग्ध, जीवन रसादिक **वान** वहन धारण करने वाले **अग्न** आत्माग्नि, आत्मयज्ञ की ज्वाला **आ** आवाहन करते आपका। पधारें एवं **गहि** ग्रहण करें **तम** उनको, सामिग्री हव्यवत अर्पित हमें **मा** जो नहीं हैं सदा रहने वाले, क्षणभंगुर, शरीरधारी **सम** संयुक्त

होकर, मिलाकर, यज्ञ में भस्म करके **सृज** सृजन करें, उत्पन्न करें **वर्चसा** ज्योतिर्मय सूर्य, अमर देवत्व में, अनन्त दिव्य ज्योतियों में।

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ।।12/24।।

सम् समान **माग्ने** ऐश्वर्यमयी अग्नि **वर्चसा** अमर दिव्य ज्योतियों से संयुक्त करके **सृज** सृजन उत्पन्न करने वाली **सम** संयुक्त **प्रजया** नित्य जय से **समायुषा** (सम्+आयुषा) अमर आयु को प्रदान करने वाली **विद्युम** (विद्युः+मे) तड़ित सदृश्य अमर ज्योतियों में **अस्य** ऐसी **देवा** देवत्व से युक्त **इन्द्रा** (इन्द्राः) महान आत्मा के समान **विद्यात** जानी जानेवाली समर्थ **सह** संयुक्त ज्ञान विज्ञान सहित करके जन्में हम **ऋषिभिः** साधको ऋषियों को।

इस प्रकार ऋग्वेद, प्रथम मण्डल के द्वितीय ऋषि मेधातिथि काण्वः के सूक्तों का हमने संक्षेप में अमरकोश, निरूक्त, निघण्टु सम्मत अर्थसहित पाठ किया है। संस्कृत भाषा प्रकृति, सृष्टि के नियमन के संस्कारों से **संस्कृत** है। इसे संस्कारों की समृद्ध भाषा का सम्मान प्राप्त है।

इससे पूर्व **ज्योर्तिवेद के विभिन्न सोपान** नामक तीन खण्डों की श्रृंखला के द्वितीय खण्ड में, हमने ऋग्वेद के प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा का सम्पूर्ण पाठ किया है।जो कुछ भी इन ग्रन्थों में कहा गया है तथा पूर्व के ग्रन्थों **सनातन दर्शन के नौ अध्याय, रहस्यलीला, जादू और जादूगर, साधनः विज्ञान, सरयु के तट** तथा अन्यान्य ग्रंथों के प्रत्येक शब्द का सन्देहरहित, स्पष्ट अनुमोदन, हमें वेद के ऋषियों में मिला है। ऐसा हमें सर्वत्र संहिताओं, स्मृति ग्रन्थों, वेद के सभी ऋषियों, उपनिषदों, शास्त्रों, पुराणादिक ग्रन्थों में समान रूप से मिलता है। यदि इन ग्रन्थों से प्रक्षिप्त अंश, जो गुलामी के अन्तरालों में भ्रमवश जुड़ गये, अलग कर दिये जायें तो सर्वत्र हमें आत्मयज्ञ की अन्तर्मुखी धाराओं में जीवन के सूत्रों को खोजती, विज्ञान की अविरल धारा का दर्शन होता है। गुलामी के उपरान्त भी इन ग्रन्थों को शिक्षा में दिशा निर्देशित स्थान न मिलने से, इनके विज्ञान के रहस्य लुप्त होते जा रहे हैं।

जीवन के उत्पति के स्थान पर जाकर, जीवन्त रूप से, जानने की राह ही वेद का विज्ञान है। जीव का शरीर, जीवन की निरन्तर उत्पत्ति का यज्ञ क्षेत्र है। इसके रहस्यों को अन्तर्मुखी होकर स्पष्ट रूप से पाया जा सकता है। वेद की इस सशक्त मान्यता को झुठलाया कदापि नहीं जा सकता है। अपने से दूर जीवन के रहस्यों को खोजने का विज्ञान जहां अति महत्वपूर्ण है, वहीं वेद की अन्तर्मुखी दिशा भी उतनी ही सशक्त, पूर्ण वैज्ञानिक, तर्क संगत एवं अति महत्वपूर्ण है। इस दिशा के साक्ष्य एवं प्रमाण सम्पूर्ण वैदिक वांग्मय के साथ ही हम सब के शरीर भी हैं। इन्हें सूक्ष्मता से जानने तथा विधिवत पढ़ने की जरूरत है।

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के तृतीय ऋषि आजीर्गति शुनःशेप का विज्ञान भी अति विस्मयकारी, सृष्टि विज्ञान का अनुपम कोश है। वेद के लगभग सभी ऋषि तथा उनके शोध सूक्त सृष्टि विज्ञान की अनुपम उपलब्धियां हैं। तीसरे ऋषि हमें उस गर्भनाल का संकेत करेंगे जिससे सचराचकी उत्पत्ति होती है। इसी को आधुनिक युग के वैज्ञानिक **ब्लैक होल** अथवा एक काले धब्बे की संज्ञा प्रदान करते हैं। वेद इसे विष्णु की नाभि से प्रकट नाल {गर्भनाल} के रूप में मूर्तियों में दर्शाते हैं। इसी नाल से एक कमल दूसरे छोर पर प्रकट होता है जिसमें ब्रह्माजी वास करते हैं जिसके द्वारा ही सम्पूर्ण जीवन्त सचराचर की उत्पत्ति होती है।

इसी प्रकार चौथे ऋषि में हम जानेंगे कि किस प्रकार निशेचित मानव भ्रूणों को गौओं के गर्भ में स्थापित करके तथा उन गौओं को गम्भीर शीतनिद्रा में स्तम्भित करके मानव को धरती पर उतारा गया था। निस्संदेह वेद विज्ञान की सशक्त धारा हैं। इनकी अवज्ञा भारी अज्ञान है।

ज्योतिर्वेद के विभिन्न सोपान. भाग 4 के उपरान्त हम ऋषि आजीगर्ति शुनाशेप में उस अवधारणा को स्पष्ट करेंगे जो जीवन की उत्पत्ति का उद्‌गम है।

हरि ॐ! नारायण हरि !

तन एक मन्दिर !

Body The Divine Temple

बीलु चिदारूजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वन्हिभिः।
अविन्द उस्रिया अनु ।।ऋग्वेद।।

Decoration of Dome represents hairs tied and twisted like Monk

जूड़े के सदृश्य गुम्बद का कलश।

Head is represented by dome of temple.

सिर के सदृश्य मन्दिर का गुम्बद।

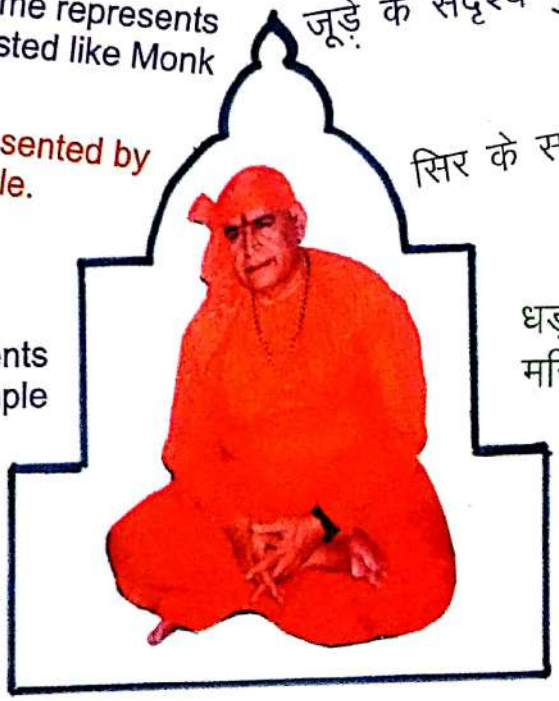

धड़ के सदृश्य मन्दिर का गर्भगृह।

Trunk of body represents the room of temple

Posture of folded legs is represented as platform of Temple

पाल्थी (आसन) सदृश्य चबूतरा।

देवयन्तो यथा मतिमच्छा विदद्वसुं गिरः।
महामनूषत श्रुतम् ।।ऋग्वेद।।

आत्मा आराध्य की प्रतीक मन्दिर की प्रतिमा तथा जीवात्मा का प्रतीक पुजारी।
सम्पूर्ण मानव जीवन एवं तन, धर्म की जीवन्त प्रतिष्ठा है।

Body is divine temple of Lord Aatma, represented by the Idol.
Jeevaatma is priest of this temple. Entire life is service to Lord

Swami Sanaatan Shree
Sanaatan Ashram, Kursi Road, Lucknow 226026
Phone 0522-3095570

NISHKAAM PEETH PRAKASHAN

(PUBLICATION DIVISION OF THE TIMES OF ASTROLOGY)
Shankers' House of Astrology, R-12 A, Hauz Khas,
New Delhi - 1100 16
Tel.: 011-26512523, 0522-2769462
E-mail : editor@jyotirved.com
http//:www.jyotirved.com

Rs. 120/- US $ 10

ISBN : 81-87528-48-6